Chapter-2

द्वितीय अध्याय

शृंगार : व्याख्या, तत्व, भेद तथा वर्गीकरण

" शृंगार " शब्द की व्याख्या -

विद्वानों ने "शृंगार " शब्द को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है । उनमें से प्रमुख विचार निम्नलिखित है -

' शृंगार ' शब्द ' शृंग ' और ' आर ' के योग से बना है । आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार कामदेव के अंकुरित होने को ' शृंग ' कहा गया है ।[१] ' आर ' ' ऋ ' धातु से निष्पन्न है और गत्यर्थक है, जिसका अर्थ है प्राप्ति । शब्दार्थ की दृष्टि से शृंगार ' कामोद्रेक ' अथवा ' कामवृद्धि की प्राप्ति ' का द्योतक है ।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में शृंगार की व्याख्या इस प्रकार की-

' सुख प्रायेष्ट सम्पन्न ऋतु माल्यादि सेवक:
पुरुष प्रमदायुक्त शृंगार इति संज्ञित: ।'[२]

अर्थात् "प्राय: सुख प्रदान करने वाले इष्ट पदार्थों से युक्त ऋतु-मालादि से सेवित स्त्री और पुरुष से युक्त शृंगार कहा जाता है ।" धनंजय ने दशरूपक में शृंगार की व्याख्या करते हुये कहा है -

' रम्यदेशकाल काल वेष भोगादि सेवने:
प्रमोदात्मा रति: सेव यूनोरन्योन्यरक्तयो:
प्रहृष्यमाण शृंगारो मधुराग विचेष्टितै: ।[३]

अर्थात् " परस्पर अनुरक्त युवा नायक नायिका के हृदय में, रम्यदेश, काल, कला, वेश, भोग आदि के सेवन के द्वारा आत्मा का प्रसन्न होना रति स्थायी भाव है । यही रति स्थायी भाव नायक या नायिका के अंगों की मधुर

---

१. शृंग हि मन्मथोभदेदस्तागमन हेतुक: । उत्तम प्रकृति प्रायो रस: शृंगार ।
- साहित्य दर्पण - ३।१८८ ।

२. नाट्यशास्त्र ६।४६

३. दशरूपक ४।४८, पृ० २५३

चेष्टाओं के द्वारा एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होकर 'श्रृंगार रस' कहलाता है। भोज के अनुसार - श्रृंगारो हि नाम विशिष्टेष्ट चेष्टाभिव्यंजकानामात्मगुण संपदामुत्कर्षो बीजं बुद्धि सुख दुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नसंस्कारातिशय हेतुः आत्मनो- अहंकार विशेषः सचेतसा रस्यमानः रस इत्युच्यते।[1]

अर्थात् विशिष्ट इच्छाओं और चेष्टाओं को व्यक्त करने वाले आत्मगुणों के उत्कर्ष का मूल, बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न संस्कारों का सबसे बड़ा कारण, आत्मा का अहंकार विशेष और सहृदयों द्वारा आस्वादित होने वाला रस श्रृंगार कहलाता है।

जगन्नाथ के अनुसार - "स्त्री पुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्याश्चित्तवृत्ति विशेषो- रति स्थायिभावः गुरु देवता पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।"[2]

अर्थात् " श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है। स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसको रति संज्ञक स्थायी भाव कहते हैं। वही प्रेम, यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारी भाव कहलाता है। "

उपर्युक्त परिभाषाओं में से भोज की परिभाषा को छोड़कर शेष में पर्याप्त समानता है। सभी में नायक-नायिका का उल्लेख किया गया है जिसका अभिप्राय है, सम-लैंगिक व्यक्तियों की मैत्री या प्रीति श्रृंगार के क्षेत्र में नहीं आती। दो भिन्न लैंगिक व्यक्तियों का प्रेम भी वासना - रहित हो सकता है - यथा भाई बहिन का - किन्तु काम, संभोग, शारीरिक चेष्टाओं आदि का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि श्रृंगार के अन्तर्गत काम समन्वित प्रेम (Sexual-Love) का ही समावेश है। रसगंगाधरकार द्वारा गुरु, देवता, पुत्र विषयक रति को व्यभिचार बनाना भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त इन विद्वानों ने श्रृंगार के भेदों के निरूपण में आलिंगन, चुम्बन आदि काम - क्रियाओं का वर्णन किया है। अस्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रृंगार रस में विशुद्ध प्रीति, स्नेह, वात्सल्य, मैत्रीभावना

---

१. श्रृंगार प्रकाश २, पृ० ३५३ - ४६४।

२. रसगंगाधर, पृ० १२६।

के लिये कोई स्थान नहीं है ।

भोजराज ने श्रृंगार के दो अर्थ किये हैं - (१) व्यापक अर्थ में अभिमान श्रृंगार और (२) साधारण अर्थ में स्त्री-पुरूष का प्रेमों पर उन्होंने श्रृंगार-प्रकाश के तेरहवें अध्याय में श्रृंगार के भेदोपभेदों का विवेचन करते समय नायक-नायिका के पारस्परिक सम्बन्ध का जैसा विवेचन किया है उससे यह सिद्ध होता है कि रस के आठ भेदों के अन्तर्गत आने वाले श्रृंगार को वे भी काम समन्वित प्रेम से ही संबंधित मानते हैं ।

(१) श्रृंगार : मूलभाव - रति -

रति श्रृंगार का मूल एवं स्थाई भाव है । आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार मन के अनुकूल सुख प्राप्ति को ' रति ' कहा जाता है ।[१] आचार्य जगन्नाथ ने स्पष्ट किया है कि स्त्री और पुरूष भी परस्पर एक दूसरे के संबंध में ' प्रेम ' चित्तवृत्ति होती है । उसी स्थाई भाव को ' रति ' कहते हैं ।[२] अग्निपुराण के अनुसार ' रति ' का उद्भव अभिमान से होता है और जब वह व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होती है तो उसे '' श्रृंगार '' कहा जाता है ।[३] नायक - नायिका द्वारा अनुकूल देशकाल और भोग आदि के सेवन द्वारा अपने अंगों की मधुर चेष्टाओं से एक दूसरे के हृदय में परिपुष्ट होना श्रृंगार है ।[४] सुधारससागर के अनुसार स्त्री और पुरूष द्वारा काम वासना से युक्त हृदय से परस्पर रमणेच्छा को रति कहा गया है -
'' स्मर कराम्बितान्त: करणयो: स्त्री पुंसयो परस्पर रिरंसा रति: स्मृता ।''
पंडितराज ने रति का वर्णन इस प्रकार किया है -'' स्त्री पुरूष की एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे ' रति ' स्थायी भाव कहते हैं ।

---

१. साहित्य दर्पण ३ - १७६
२. रस गंगाधर - पृ० १२८
३. अध्याय ३ - श्लोक ४
४. आचार्य धनन्जय, दशरूपक, ४-४८

हिन्दी के आचार्यों में देव ने ' प्रेमचंद्रिका ' में पांच प्रकार के प्रेम का वर्णन करते हुये उनमें - सानुराग प्रेम जो शृंगारमय कहा गया है, उस शृंगारपूर्ण प्रेम के संबंध में रति को स्थायीभाव कहा गया है -
''प्रेमांकुर सो रति कहत रस सिंगार स्थिति भाव'' (भा० वि०)

इस प्रकार ' रति ' के मुख्य लक्षण दो हैं -
(१) स्त्री और पुरुष का परस्पर अनुराग, (२) प्रसन्न करने वाला भाव । आचार्य भोजराज ने ' रति ' के भेदों की संख्या १२२८२ बताई है ।[१]

भारतीय आचार्यों ने ' रति ' के मानसिक पक्ष को महत्व प्रदान करते हुये उसके भौतिक पक्ष को गौण माना है । इसके विपरीत पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने इसे ' काम ' के समकक्ष बताते हुये शृंगार में कामुकतापूर्ण वर्णन को अनिवार्य माना है तथा उससे सम्बद्ध भाव को श्री मैकडुगल ने ' लस्ट ' (Lust) कहा है । फ्रायड का ' लिबिडो ' (Libido) भी यही लस्ट है ।[२] जिसे ' रति ' का समानार्थक समझा गया है । निष्कर्षत: आचार्यों ने शृंगार को मनुष्य की सबसे प्रिय भूख ' काम ' से सम्बद्ध करके उसकी प्रकृति को पवित्र, उज्जवल एवं दर्शनीय कथित किया गया है ।

<u>रसराज</u> - शृंगार रस को आचार्यों द्वारा ' रसराज ' की उपाधि प्रदान की गयी है । भरतमुनि के अनुसार जो कुछ संसार में पवित्र, उज्जवल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार के भीतर समाविष्ट है । अग्निपुराण में कहा गया है कि रतिमूलक शृंगार ही एक मात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रसूत हुये हैं । प्रकृतिवादी शृंगार को ' आद्यरस ' मानते हैं । केशव नवरसों में शृंगार को ' नायक ' कहते हैं और मतिराम ने उसे स्पष्ट ' रसराज ' कहा है ।

शृंगाररस की ' रसराज ' के रूप में स्वीकृति बड़े ही पुष्ट आधारों पर आधारित है । प्राचीन आचार्यों ने शृंगार रस को ही 'रसराज ' की उपाधि से विभूषित किया है । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि शृंगाररस के दो भेद हैं - संयोग और विप्रलम्भ । ये दोनों ही पक्ष समस्त हृदय

---

१. शृंगार प्रकाश, अध्याय १३
२. हिन्दी साहित्य कोश - भाग १ - पृ० ६६६.

की वृत्तियों पर अपना पूरा शासन जमाये हुये हैं। श्रृंगार रस के अतिरिक्त अन्य सब रस, सम्मिलित रूप से भी मानव हृदय पर उतना अधिकार नहीं रखते जितना, अकेले इस रस के उक्त दोनों पक्ष। वस्तुत: अन्य सब रसों को विचारपूर्वक देखने पर रस कहलाने से पूर्व श्रृंगार रस का ही माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। क्या करुण रस, श्रृंगार या काम-भावना से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्धित रहे बिना, अपनी पूरी भाव-विभूति या गंभीरता के साथ प्रकट हो सकेगा ? क्या हास-विलास, बिना श्रृंगार के कोई रंग लायेगा ? क्या श्रृंगार के बिना वीरता जीवन में बिना स्वाद का व्यंजन न होगी ? क्या श्रृंगार की विथियों में लीला किये बिना जीवन में सच्चे वैराग्य या शांत रस का आनन्द कोई ले सकेगा ? इसी प्रकार अन्य रसों की भी स्थिति है। श्रृंगार रस से ये सब रस उसी प्रकार सम्बन्धित हैं जिस प्रकार कोई वृत्त अपने केन्द्र से। श्रृंगार जीवन की केन्द्रीय भावना है, जिसके व्यापक व गंभीर अनुभव के बिना किसी भी रस की अनुभूति, जगत व जीवन के व्यापक अनुभव की दृष्टि से, पक्की व प्रामाणिक नहीं समझी जा सकती।

श्रृंगार रस की स्थिति प्राणी-मात्र (सब वर्ग व स्तर के जीवधारियों) तक व्याप्त है। साहित्य शास्त्र में जितने भी स्थायी भाव व संचारी भाव हैं उन सभी भावों का समावेश केवल श्रृंगार रस में ही होता है। समस्त भूमण्डल पर जितनी भी मानवेतर चराचर प्रकृति है उसका उद्दीपनगत-ग्रहण (आलम्बनगत ग्रहण प्रकृति को रति - भाव का स्वतन्त्र आलम्बन मानने पर ही होता है) केवल श्रृंगार रस के अन्तर्गत ही होता है। प्रकृति का काव्य से जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह सभी इसी रस के निरूपण में प्रकट होता है। अन्य करुण, रौद्र, वीर आदि रसों में प्रकृति का प्राय: कोई विशेष उपयोग नहीं होता। विराट् और आनन्दमयी प्रकृति के समावेश के कारण यह, रस (श्रृंगार) अत्यंत ही गूढ़ व व्यापक हो जाता है। मानव हृदय पर सौन्दर्य का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसका आकर्षण बड़ा सबल व गंभीर होता है। शारीरिक सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य, वस्तु सौन्दर्य, कलागत सौन्दर्य

आदि सबकी दीप्ति, गंध, शोभा, रंग - रूप सब मानो श्रृंगार में ही जाकर सजीव होते हैं । देव विषयक रति (भक्ति रस) तक को श्रृंगार भावना कितनी दूर तक प्रभावित करती है, यह बात आज प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं । श्रृंगार भावना के बीच ' काम ' भावना का अखण्ड साम्राज्य जीवन व मन के स्नायु - जाल में विस्तृत है, यह बात आज मनोवैज्ञानिकों द्वारा सिद्ध की जा चुकी है । योगियों की ब्रह्मानुभूति सम्बन्धी अभिव्यक्ति के लिये भी इस काम-मूलक श्रृंगार की भाषा व प्रतीक आदि ग्रहण किये जाते हैं, यह तथ्य भी श्रृंगार रस की अखंड सत्ता का दिक् - घोष कर रहा है । इसके अतिरिक्त इस रस से सम्बंधित अभिव्यक्ति का ' साधारणीकरण ' जितनी सहजता व व्यापकता से होता है, उतना कदाचित् किसी और रस की अभिव्यक्ति का नहीं । संसार का काव्य अधिकांश श्रृंगार संबंधी ही हैं क्योंकि इस रस का प्रभाव मानव हृदय पर सबसे अधिक गहरी होती है । शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक - जीवन के इन तीनों ही अंचलों या धरातलों से इस रस का घनिष्ठतम सम्बन्ध है ।

उपर्युक्त विवेचन से, श्रृंगार रस की सर्वश्रेष्ठता निर्मलता व व्यापकता का कुछ अनुमान हो सकता है । वस्तुत: यही है श्रृंगार की उच्च भावना । इसी के कारण सूक्ष्म-बुद्धि-सम्पन्न आचार्यों ने इसे ' रसराज ' कह कर इसका उचित गौरव प्रतिष्ठित किया है ।

रति श्रृंगार का स्थायी भाव है । पर दृश्यादृश्य जगत् में कुछ तत्व ऐसे हैं, जिनके कारण रति भाव परिपुष्ट होकर हमारे हृदय में श्रृंगार रस की सरिता प्रवाहित करता है । श्रृंगार से संबंधित निम्नलिखित तीन तत्व माने गये हैं :-

(१) काम,

(२) सौन्दर्य, और

(३) प्रेम ।

काम

' काम ' शब्द को प्राय: दो अर्थों में लिया जाता है, व्यापक अर्थ में यह इच्छा का पर्यायवाची बनकर हमारे जीवन के चार प्रधान उद्देश्यों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रतिष्ठित है। संकुचित अर्थ में यह शारीरिक मिलन की प्रवृत्ति को सूचित करता है।

वेदों में काम का स्वरूप -

प्राचीनतम भारतीय साहित्य, विचार, भावना और विश्वास को भली-भांति समझने के लिये वेद ही हमारे मौलिक साधन हैं। उन्हीं वेदों के अध्ययन मनन से हमें ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य प्रकृति संबंधी अद्भुत लीलाओं को अत्यंत आश्चर्य और आनन्दभरी दृष्टि से देखते थे। उन्होंने प्रकृति की इन विचित्र लीलाओं का स्पष्ट ज्ञान कराने के उद्देश्य से ही अनेक देवी देवताओं की कल्पनाएं की थी।

सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में ' काम ' के उद्भव का उल्लेख है। इस ' काम ' का स्वरूप वहां ब्रह्म के संकल्प के रूप में प्रतिष्ठित है जो आदिम शक्ति तत्व के रूप में सृष्टि का विधाता भी है और उसी का समवायि कारण भी। इस दृष्टि से वह ब्रह्म और जगत् दोनों से अभिन्न है। सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व मन की सर्व-व्यापिनी बुद्धि का मूल तत्व ' कामना ' का द्योतक समझा जाता था और वह सृष्टिकर्ता की ' इच्छा ' का भी बोधक माना जाता था।[१] इस प्रकार यहां ' काम ' का उल्लेख सृष्टि उत्पत्ति के कारण रूप में हुआ। आदि तत्व में कामना हुई (अर्थात् काम उत्पन्न हुआ) और प्रथम मन में बीज हुआ तभी तो ' यजुर्वेद ' में अन्य देवताओं के साथ कामदेव की भी स्तुति की गयी है।[२] अथर्ववेद में भी ' काम ' का स्तवन किया गया है।[३] और उसे शक्तिशाली, शत्रु संहारक और अनन्य

---

१. कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्
सतो बन्धमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा: ।
(ऋग्वेद : १०, ११)

२. ' शुक्ल यजुर्वेद संहिता ' - २४ - २६

३. अथर्ववेद - ३, २५, १

सुंदर माना गया है ।[१] वहां पुरुषार्थ चतुष्टय मे ` काम ` को अत्यधिक महत्व देते हुए कहा गया है कि - हे काम, तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर, ~~केवल्फिल्क कर्केह~~ देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ कोई तुमसे बचा नहीं । अतएव इस विश्व में तू व्यापक और, सबसे महान है । मैं तुझे नमस्कार करता हूं ।[२] अथर्ववेद के कामसूक्त में ` काम ` का विशद वर्णन[३] करते हुए बतलाया गया हैं कि जिस प्रकार अग्नि समग्र पदार्थों को अपनी ज्वाला में जलाकर भस्म कर देता है उसी प्रकार ` काम ` प्राणियों के हृदय को जलाता है ।[४]

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ` काम ` की स्तुति की है । ऋग्वेद के एतदेय ब्राह्मण में ` काम ` का विशद् वर्णन प्राप्त होता है । सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रजापति के हृदय में ` काम ` ही सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुआ । इसी कारण प्रजापति को सृष्टि सम्बन्धी कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा ।[५] तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे देवता के रूप में प्रेरणादायक दाता और प्रतिगृहीता माना गया है ।[६] ` काम ` वह समुद्र हैं जिसके अन्त का पता नहीं और जिसके भीतर जगत के समस्त पदार्थ समा जाते हैं ।[७] ` काम ` ने ही सर्वप्रथम सृष्टि रचना के निमित्त प्रजापति में इच्छा शक्ति उत्पन्न की थी ।[८]

(२) उपनिषदों में काम का स्वरूप -

उपनिषदों में ` काम ` को पुरुष रूप में तथा संकल्प और कांक्षा रूप में निर्दिष्ट किया गया है ।[९] वहां ` काम ` शब्द का प्रयोग

---

१. अथर्ववेद ९, १, १९
२. ,, ९, १, १९
३. ,, ९, १, २
४. ` यो देवो (अग्नि) विच्वात् यं त काममाहु ` - अथर्ववेद - ३,२,१४ ।
५. `प्रजापातिरकामयत प्रजामीम भूमांत्स्यामीति` - एतरेय ब्राह्मण-४,४,२३ ।
६. काम काममेत्याह-कामेन हि ददाति-कामेन प्रतिगृह्णाति-तैतिरिय ब्राह्मण - २,२,५,५ - ६ ।
७. समुद्र इव हि कामः नहि कामस्यान्तोअस्ति - तैतिरिय ब्राह्मण २,२,५,६
८. शतपथ ब्राह्मण - २,४,४,१
९. काम एव मस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतियों तं पुरुषं विद्यात - यः एवायं काममयः पुरुषः स एव वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रियः इति होवाच - बृहद - उप - ३, ९, ११.

सृष्टि-निर्माण की प्रेरणा शक्ति के व्यापक अर्थ में ही किया गया है और 'काम' को आनन्द भावना से समन्वित पाकर श्रेयस्कर माना गया है।[१] वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार मन, जल, अग्नि और पृथ्वी के उपरान्त ब्रह्म के हृदय में अपने द्वितीय स्वरूप को उत्पन्न करने की कामना हुई - यह कामना भी काम प्रेरित थी।[२] मानव - शास्त्र के सुप्रसिद्ध ज्ञाता शारंगधर भी आर्य सभ्यता के प्रधान चार स्तम्भों में 'काम' को बड़ा महत्व देते है।[३] धर्मशास्त्रों ने धर्म, अर्थ और मोक्ष के साथ चतुवर्ग में 'काम' की भी गणना की है। इसके दो भेद हैं - धर्मविरुद्ध और धर्माविरुद्ध। जब यह धर्म विरुद्ध होता हैं तो नर-नारी की विविध अवनति का कारण बनता है किन्तु धर्म के अविरुद्ध होने पर वह स्त्री-पुरुष की सर्वांगीण सुख समृद्धि का पोषक होता है। इसी कारण 'श्रीमद् भगवद् गीता में धर्म - संयुक्त 'काम' को ईश्वरीय विभूतियों में सम्मिलित किया गया है[४] और धर्म विरुद्ध 'काम' को महापापी, बैरी और ज्ञान को ढकने वाला कहा गया है।[५] 'काम' के इसी द्विविध भाव में जो सशक्त आकर्षण अनन्तकाल से चला आ रहा है वही इस सृष्टि का महान रहस्य है।[६] नर का नारी के प्रति और नारी का नर के प्रति सहज आकर्षण विधाता का विधान है। इसी अनुभूति को 'रति' की संज्ञा दी गई है। 'रति' को काम की देवी (तस्य कादेव लेति ~~स्त्रियः~~-स्त्रियः - वृहद) और 'रति' तथा 'काम' की प्रेमोपासना का वरदान स्वरूप पुत्र आनन्द है।[७] यही आनन्द

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद - ४, ३, २१
२. ,, सोऽहमकामयत - द्वितीयोय आत्मा जायतेति - १,२,४
३. स्त्रिषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्पर कृत: स्नेह: काम इत्यभिधीयते।। शारंगधर १, ६
४. 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ - श्रीमद् भगवद् गीता- ७,११
५. श्रीमद् भगवद् गीता - ३, ३७, ३८, ३९
६. श्रोत्रत्वक्चक्षुजिव्हा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन, मनसाधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यत: प्रवृत्ति: काम:।
कामसूत्र अधिकरण, १, अध्याय - २
७. मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यति।' तस्यां प्रतिरूप: पुत्रो जायते आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म। - वृहद., ४,१,६

अनन्त सृष्टि विस्तार का प्रेरक, पोषक और अखिल विश्व का आधार है। भगवान कृष्ण ने अपनी द्वारिका में ' पंचम् कर्मेन्द्रिय का विषय आनन्द ही बताया है। किसी किसी ने इसे ' ब्रह्मानन्द ' का समकक्ष तक कहा है। पारस्कर गृह्य सूत्र भी ' काम ' को दाता अदाता सब कुछ स्वीकार करते है।[१] काम के भौतिक रूप के परिणाम स्वरूप अनात्यिक वृत्तियों का जन्म हुआ है। विलास, क्रोध, भय, मत्सर, लोभ आदि शत्रुओं की उत्पत्ति का एक मात्र कारण अनुचित ' काम ' का यही रूप हैं। विश्व में विषमता, समरसता का अभाव इसी ' काम ' की सृष्टि है। इस लोक में जितने देहधारी जीव हैं, वे किसी न किसी रूप में ' काम ' के उपासक अवश्य है।

त्रिपुरोपनिषद् के अनुसार काम - कला - काम (शिव) और कला (शक्ति) ही सृजनात्मक शक्ति हैं। कलिका-पुराण (एक अर्वाचीन उपपुराण) में कामकला की उत्पत्ति के संबंध में एक कथा है - ब्रह्मा ने पहिले प्रजापति और मानसोत्पन्न ऋषियों को प्रकट किया, फिर सन्ध्या नामक कन्या को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् सुप्रसिद्ध मदन देवता को, जिसे ऋषियों ने मन्मथ नाम दिया। ब्रह्मा ने मदन देवता को वर दिया कि तुम्हारे बाणों के लक्ष्य से कोई नहीं बच सकेगा। तुम अपनी इस त्रिभुवन विजयी शक्ति से सृष्टि रचना में मेरी सहायता करो। मदन देवता ने इस वरदान और कर्तव्यभार को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उसने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि ब्रह्मा और सन्ध्या प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे। उन्हीं के प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के ४६ भाव हुए तथा सन्ध्या के बिब्बोक आदि हाव तथा ६४ कलायें हुईं। कला (कामकला) की उत्पत्ति का यही इतिहास है।[२]

---

१. कामो दात् कामामादात्।
कामो दाता, काम: प्रतिगृहीता, कामैतते - पा० गृह्यसूत्र, ३,१३

२. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद - डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ०१७

(३) पुराणों में काम का स्वरूप -

शिवपुराण के अनुसार संकल्प, इच्छा और कल्पना भी ' काम ' हैं जिससे सृष्टि का उन्मेष होता है ।[१] महाभारत के वनपर्व[२] शान्तिपर्व[३] और अनुशासन पर्व[४] में भी ' काम ' की महत्ता स्वीकार करते हुए कहा गया है कि पंचेन्द्रियां, मन और हृदय के विषयासक्त रहने पर उन्हें जो तद्‌विषयक प्रीति उत्पन्न होती है, वही ' काम ' है तथा वह कार्यों का उत्तम परिणाम स्वरूप है ।

(४) संस्कृत साहित्य में काम का स्वरूप -

वात्स्यायन ने ' काम ' को जीवन की प्रेरक शक्ति[५] बतलाते हुये ' कामसूत्र ' में ' सामान्य काम ' और ' विशेष काम ' की चर्चा की है ।[६] उनके अनुसार पांच इन्द्रियों के पांच विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) में प्रकृति अनुकूल सुखद पदार्थों के अनुभव की इच्छा ' सामान्य काम ' है, इच्छा, वासना, तृष्णा आदि इसी ' सामान्य-काम ' के पर्याय है । विशेष काम की भावना स्पर्श सुख की अनुभूति की प्रतीति पर अवलम्बित रहती है ।[७] रति और प्रीति ' काम ' की दो भार्यायें हैं । बिना काम के रति और बिना प्रीति के रति नहीं होती है ।

श्री भोज (१००५ - १०५४ ई०) ने पूर्ववर्ति आचार्यों द्वारा निरूपित ४१ भावों (स्थायी भाव-८ और संचारीभाव ३३) के मूल में केवल एक भाव अभिमान श्रृंगार को स्वीकार करते हुये अन्य सभी भावों की उत्पत्ति इसी से मानी है ।[८] उनके विचारानुसार - " हम संसार की विभिन्न वस्तुओं का आस्वादन अहं के कारण ही कर पाते है । --- हम

---

१. कामः सर्वमयः पुंसा स्वसंकल्प समुद्‌भवः ।
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः ।। शिव पुराण
(धर्म संहिता) अध्याय ८
२. महाभारत वनपर्व, ३३, ३७, ३८
३. ,, शांतिपर्व, २५४, १-३
४. ,, अनुशासनपर्व, १६१
५. कामसूत्र, १, १-२
६. ,, १,२, ११-१२
७. ,, १,२,१२
८. भोजराज- श्रृंगार प्रकाश, अध्याय ११ ।

किसी से प्रेम क्यों करते हैं ? प्रेम हमें अच्छा क्यों लगता है ? क्योंकि इससे हमारे अहं की तृप्ति होती है । यदि हमें कोई सुन्दर युवती प्रेम करती है तो हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि वह हमें चाहती हैं । उसके प्रेम के प्रत्युत्तर में हम प्रेम इसलिये करते हैं क्योंकि हम चाहते हैं कि हमें कोई प्रेम करे ।``[१] ~~काम के कि~~ भोज के विचार फ्रायड महोदय से बहुत साम्यता रखते हैं ।

(५) वात्स्यायन और फ्रायड के काम संबंधी विचार -

स्त्री और पुरुषों में पारस्परिक आकर्षण और प्रेम का मुख्य आधार ` काम ` भावना है । भारत और पश्चिम में भी ` काम ` को प्रेम का देवता मानकर इसे उपास्य कहा गया है । भारतवर्ष में इसे कामदेवता की संज्ञा दी गई, यूनान में ` इरोज ` और लैटिन में ` क्यूपिड ` कहा गया है । वेदों का ` विश्वरेतस् ` भी यही कामदेव है । काम भावना संसार के समस्त प्राणियों के साथ ही जड़-चेतन में भी दिखाई देती है । पश्चिमी मनोवैज्ञानिक फ्रायड के मतानुसार काम मानव जीवन की मुख्य प्रवृत्ति है । फ्रायड के अनुयायी सृष्टि का मूलस्त्रोत - ` लिबिडो ` के रूप में मानते हैं । यह लिबिडो भी काम का ही एक रूप है । आदिमकाल से आज तक अनेक जातियों में काम - सम्बन्ध को पवित्र भावना के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है । इनमें स्त्री - पुरुषों में पारस्परिक यौन सम्बन्ध हेय नहीं होकर पवित्र माने जाते हैं । भारतवर्ष में भी अनेक त्यौहारों पर आदिम जातियां यौन सम्बन्ध एवं मैथुन को धार्मिक एवं पवित्र क्रियाओं के रूप में समझते हैं । काम संबंधी इसी भावना के कारण संसार के अनेक भागों में मुख्यत: भारतवर्ष में लिंग और योनि की पूजा कामदेवता के प्रतीक रूपों में प्रचलित रही है । भारतवर्ष के अनेक मंदिरों में भी संभोग-रत स्त्री-पुरुषों की आकृतियां इसी दृष्टिकोण से उत्कीर्ण की गई है ।

---

१. भोजराज - शृंगार प्रकाश, अध्याय ११ ।

भारतीय आचार्य भोजराज ने काम भावना का मूल कारण अभिमान बताया है । इनका मत इस प्रकार है -

`` हम संसार की विभिन्न वस्तुओं का आस्वादन अपने अहं के कारण ही कर पाते हैं । --- हम किसी से प्रेम क्यों करते हैं ? प्रेम हमें अच्छा क्यों लगता है ? क्योंकि इससे हमारे अहं की तृप्ति होती है । यदि हमें कोई सुन्दर युवती प्रेम करती है तो हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि हमें वह चाहती है । उसके प्रेम के प्रत्युत्तर में हम प्रेम इसलिये करते हैं, क्योंकि हम चाहते हैं कि हमें कोई प्रेम करे ।``[१]

पश्चिमी मनोवैज्ञानिक फ्रायड भी काममावना में ` अहं ` का महत्व स्वीकार करते हैं ।[२] भोज और फ्रायड दोनों ही समान रूप से स्वीकार करते हैं कि समस्त मानवीय प्रवृत्तियों का मूल कारण व्यक्ति का ` अहं ` है और अहं मिश्रित काम-भावना से ही अन्य भावनायें उत्पन्न होती हैं । व्यक्ति के ` अहं ` के सम्बन्ध में दोनों में थोड़ा अन्तर है । भोज अहं का कारण पूर्व जन्म के संस्कार मानता है किन्तु फ्रायड इसी जन्म के पूर्व संस्कारों को ` काम ` सम्बन्धी ` लिबिडो ` का प्रेरक कहता है ।

भारतीय काम-शास्त्रों में काम के विभिन्न अंगों का विस्तृत विवेचन हुआ है । इन शास्त्रों में आचार्य वात्स्यायन का कामसूत्र मुख्य है । वात्स्यायन ने काम की व्याख्या इस प्रकार की है -

(१) काम तत्व ही शरीर की स्थिति (उत्पत्ति) का कारण है, अत: इसका महत्व कम नहीं ।[३]

(२) शारीरिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष की कामशक्ति के तीन स्तर निश्चय किये गये है ।[४] स्त्री पुरुष की पूर्ण तृप्ति के लिये दोनों में समान स्तर की काम-शक्ति का होना अनिवार्य है ।

---

१. शृंगार प्रकाश - अध्याय ११
२. मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता - सन्तोषगार्गी
३. वात्स्यायन - कामसूत्र, अध्याय १।२।४३
४. वहीं, द्वितीय अधिकरण, प्रथम प्रकरण

(३) स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को मधुरता प्रदान करने वाला स्त्रोत मुख्यत: शारीरिक मिलन जन्य सुख है। यदि दोनों इस क्षेत्र में एक दूसरे की पूर्ण तृप्ति में समर्थ न हो तो इसके दुष्प्रभाव से उनके प्रेम में भी अन्तर आने लगेगा।

(४) संयोग क्रिया के मुख्यत: ८ अंग है -

(१) चुम्बन (२) नखछेद (३) दशनछेद (४) आलिंगन (५) सह-शयन (६) सीत्कार (७) अर्धशयन (८) क्रियाविशेष।

(५) इनमें से भी प्रत्येक के आठ-आठ उपभेद करते हुए लेखक ने बताया है कि किस किस अवस्था एवं परिस्थिति में किसका प्रयोग उचित है। विवाहित व्यक्तियों और अविवाहित प्रेमी-प्रेमिकाओं के आलिंगन चुम्बनादि के भेद पर भी विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

(६) काम समन्वित प्रेम के सात भेद बताये गये हैं -

(१) रागवाद - प्रथम दृष्टि से उत्पन्न होने वाला प्रेम।

(२) आहार्यराग - शनै: शनै: विकसित प्रेम।

(३) कृत्रिम प्रेम - विशेष उद्देश्य से।

(४) व्यवहित - प्रिया के अभाव में अन्य स्त्री से।

(५) पोटारत - निम्न जाति की स्त्री से क्षणिक सम्बन्ध।

(६) खलरत - उच्च जाति की स्त्री से क्षणिक सम्बन्ध।

(७) अयन्त्रित - पति-पत्नी का सम्बन्ध।

सौन्दर्य

" सौन्दर्य " शब्द की सिद्धि संस्कृत के ' सुन्दर ' (विशेषण) शब्द से भाव अर्थ में ' ष्यञ् ' प्रत्यय जुड़ कर होती है । स्वयं ' सुन्दर ' शब्द की व्युत्पत्ति संदेहास्पद है । वाचस्पत्यकोष[१] में ' सुन्दर ' शब्द को ~~अर्थ~~ ' सु ' उपसर्गपूर्वक ' उन्द् ' धातु से ' अरन् ' प्रत्यय जोड़ कर सिद्ध किया गया है इसलिये धात्वर्थ के अनुसार ' सुन्दर ' शब्द का अर्थ हुआ - ' सु ' अर्थात सुष्ठु या अच्छी प्रकार और उन्द् अर्थात्, आर्द करना, और ' अरन् ' कर्तृवाचक प्रत्यय, इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ - अच्छी प्रकार आर्द्र (गीला) या सरस करने वाला ।

इस शब्द की निष्पत्ति भ्वादि गण की ' टुनदिसमृद्धौ ' धातुओं से भी हो सकती हैं, सु (उपसर्ग) अर्थात्, अच्छी प्रकार और ' नन्दयति ', अर्थात्, जो प्रसन्न करता है, अर्थात् जो अच्छी प्रकार प्रसन्न करे, वह ' सुन्दर ' कहलाता है ।

इस प्रकार ' सुन्दर ' शब्द ' उन्द् ' तथा ' नन्द ' - इन दोनों धातुओं से सिद्ध हो सकता है । ' सु ' (उपसर्ग) ' नर ' (व्यक्तिवाचक संज्ञा) सुष्ठु नरः अर्थात् सुनरः । इन दो शब्दों के बीच में भाषा-विज्ञान के मुखसुख के नियम के अनुसार ' द ' वर्ण का आगम होकर, ' वानर ' - बन्दर के भ्रामक सादृश्य पर, 'सुनर' से 'सुन्दर ' बन गया है । मध्यागम से अर्थ-विस्तार भी हो गया है । ' सुनर ' से मानवीय सौन्दर्य ही प्रायः लक्षित होता है,[२] किन्तु ' सुन्दर ' शब्द से मानव व मानवेतर जगत् के सौन्दर्य को प्रकट करने की व्यापकता प्रकट होती है । संस्कृत में मूर्त वस्तु के लिये ही प्रायः ' सुन्दर ' शब्द का प्रयोग होना भी कहा जाता है । यूरोपीय देशों,

---

१. ~~कककक~~ वाचस्पत्यकोष, पृ० ५३१४

२. पं० सद्गुरु शरण अवस्थी: 'बुद्धि-तरंग' (१९५०), पृ० १५-१६, तथा ' समालोचक ' (आगरा) का ' सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक ', 'सम्पादकीय ', पृष्ठ ३ - ४ ।

मुख्यत: रूप में भी 'सुन्दर' से प्राय: बाहरी सौन्दर्य को ही ग्रहण किया जाता रहा था । बुद्धि या भावना के सूक्ष्म मानसिक सौन्दर्य का द्योतन करने के लिये 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में प्राय: कम ही मिलता है । हिन्दी में भी इस शब्द के साथ बहुत व्यापक और गहरा अर्थ संयुक्त हो गया है । संस्कृत में, अमूर्त के लिये 'सुन्दर' शब्द की अपेक्षा 'शोभन' शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है ।

'सौन्दर्य' शब्द की एक व्युत्पत्ति और है - 'सुन्दं राति इति सुन्दरम्, तस्य भाव: सौन्दर्यम् ।' सुन्द को जो लाता हो वह सुन्दर, और उसका भाव जहाँ हो, वह 'सौन्दर्य' कहलाता है । सुन्द पूर्वक 'रा' (धातु) अर्थात् 'आदाने' (लाना) धातु से औणादि 'अच्' प्रत्यय से 'सुन्दर' शब्द तथा '' गुणवचन ब्राह्मणादिभ्य: ष्य '' इस पाणिनी सूत्र से 'ष्यञ्' प्रत्ययोपरान्त 'सौन्दर्य' शब्द व्युत्पन्न हुआ । शब्दार्थ - 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर मिलता है ।[१] यथा - सूनर: (विशेषण), सूनरम् (कर्मकारक), सूनरि (स्त्रीलिंग सम्बोधन), सूनरी (स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति) आदि ।

'' सौन्दर्य ' एक बहुत ही व्यापक अर्थ वाला शब्द है । सुप्रसिद्ध अंग्रेजीकोषकार सरमोनियर विलियम्स[२] तथा वैबस्टर[३] ने इस शब्द से बाह्य व आभ्यंतर दोनों प्रकार के सौन्दर्यों को समाविष्ट करने वाला अर्थ ग्रहण किया है ।

---

१. समीं पणेरजति भोजनं मुषे वि दाशुषे भजति सूनरं वसु । (५,३४,७)
यं ऋत्विजे ददाति सनरं शोभनं वसु । सनरं सपसुष्टादन्ते: । (१,४८,५)
- ऋग्वेदसंहिता, सूचीखंड (जिल्द ५) वैदिक संशोधन मंडल, पूना ।

2. "Beauty, loveliness, gracefulness, elegance, noble conduct, generosity" (P.1253) Splendour, Brilliance, lustre, beauty, grace, loveliness (P.1092), exquisite beauty, splendour (P.1237) - Sir Monier Monier - Williams: Sanskrit- English Dictionary II Edition (Oxford 1899)

3. An assemblage of graces or properties, or someone of them satisfying, the eye, the ear, the intellect, the aesthetic faculty, or the moral sense; also, the abstract Quality characteristic of such properties,

भारतीय कोषकारों - आप्टे[१], अमरकोषकार[२], व वाचस्पत्यकोषकार[३] आदि ने भी इसके उसी व्यापक अर्थ को ग्रहण किया है। साहित्य में भी आचार्यों द्वारा 'सौन्दर्य' शब्द बहुत व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[४] आश्रय की भावना और उसके सौन्दर्य से लेकर आलम्बन के रूप - सौन्दर्य व उसकी चेष्टाओं का ग्रहण 'सौन्दर्य' के अन्तर्गत हुआ है। वास्तव में 'सौन्दर्य' इतना सूक्ष्मभावगर्भित शब्द है कि यह अपने शुद्ध रूप में रसानुभूति से घनिष्टतम रूप में संबद्ध है, किन्तु विदेशी अर्थ में नहीं, भारतीय अर्थ में ही।

(१) सौन्दर्य का स्वरूप -

(क) मनोवैज्ञानिक आधार - हमारी सौन्दर्य भावना के निर्धारण में अनेक तत्व सहायक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का सौन्दर्य - निर्धारण का अपना अपना व्यक्तिगत मानदंड होता है। फिर भी उसके कुछ सामान्य मनोवैज्ञानिक आधार स्थापित किये जा सकते हैं। किसी पदार्थ को देखकर हमारे मन में, सम्बन्ध - भावना के कारण अनेक मधुर भावनाएं या सुखद कल्पनायें जग उठती हैं, या जग सकती हैं।

---

the beautiful. In aesthetics, Beauty broadly comprises the sublime, tragic, comic, as well as the sensuous qualities which characterize Beauty in the narrower sense." - Webster's New International Dictionary of the English Language," P. 199.

1. "Beauty, Loveliness, gracefulness, elegance." -
   - V.S.Apte: Sanskrit-English Dictionary (1922) P.616.

२. सुषमापरमा शोभा शोभा कान्तिर्द्युतिच्छविः। (अमरकोष, १।२।१८)
   सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्
   कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।
   रम्यं मनोहरं सौम्यं --- (अमरकोष, ३।१।५२-५३)

३. वाचस्पत्यकोष, पृष्ठ ५३३८।

४. विश्वनाथ (साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद
   (हिन्दी विमला टीका, पृ० १०८ - ११८)

----- वस्तु स्वयमेव चाहे सुंदर हो या न हो, वे नवोदित भावनायें व कल्पनायें ही उस वस्तु के सौन्दर्य को अभिवृद्ध करने में सहायक होती हैं ।[१] दूसरे, सौन्दर्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण अनेक मनोवैज्ञानिकों ने हमारी यौन भावनाओं को ही ठहराया है ।[२] उनके अनुसार यौन भावना की क्षीणता या उसकी समाप्ति के साथ ही दृष्टा विशेष के लिये सौन्दर्यानुभव की क्षमता भी क्षीण या समाप्त हो जाती है ।[३] इसके अतिरिक्त आयु भी सौन्दर्य - निर्धारण में सहायक होती है । इससे भी सौन्दर्य का काम संबंधी आधार प्रमाणित होता है । व्यक्ति या वस्तु का अत्यधिक साहचर्य या सामीप्य भी कभी कभी सौन्दर्य भावना को क्षीण या निर्जीव कर देता है या कर सकता है । यही नहीं वह उसके प्रति घृणा या विरक्ति तक उत्पन्न कर सकता है । किन्तु विरल, अप्राप्त, अप्राप्य, सुदूर, रहस्यपूर्ण, पुरुषार्थ सापेक्ष वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति हमारी मधुर-ललक हमारे वांछित पदार्थ या व्यक्ति में अत्यधिक सौन्दर्य संचित कर देती है । शिक्षा और संस्कार, समाज की परम्परायें व सौन्दर्य सम्बन्धी पूर्वनिर्णय आदि भी हमारी सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं को स्थिर करने में सहायक है ।

(ख) साहित्यिक आधार -

उक्त विवेचन में सौन्दर्य भावना जनसाधारण में किस प्रकार उत्पन्न होती हैं उसका एक सामान्य मनोवैज्ञानिक आधार बताया है । किन्तु साहित्यकार या कवि सौन्दर्योत्पत्ति की मनोवैज्ञानिक स्थितियों के उल्लेख या निरूपण मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होता । वह तो रसात्मक पद्धति से सौन्दर्य - निरूपण के द्वारा जीवन के सर्वोच्च तत्व का दर्शन हमें

---

१. डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौंदर्य, पृ० १६७ ।

2. "The Psychology of Beauty," An Article by Dr.B.L.Atreya, in B.H.U. Journal (Golden Jubilee Number, 1942), and Chapter on 'Beauty' in Will Durant's 'The Mansions of Philosophy."

3. Dr. Atreya's article.

४. वही

कराने का आकांक्षी होता है । अत: कवियों ने सौन्दर्य को जिस ढंग से देखा है और वे जिस ढंग से उसकी अनुभूति करना चाहते हैं, यह सामान्य मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं या विश्लेषणों से कुछ भिन्न है । काव्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के तथ्यों को कल्पना चित्रों के रूप में ग्रहण करके फिर उनका रसात्मक निरूपण करता है । अत: धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि सब क्षेत्रों का सारभूत ज्ञान लेकर[१] वह सौन्दर्य के माध्यम से आत्म साक्षात्कार करने और कराने का प्रयत्न करता है । अभिप्राय यह है कि साहित्य केवल मनोवैज्ञानिक वास्तविकताओं के नीरस उल्लेखन तक ही नहीं टिकता । वह इससे ऊपर उठकर प्रकृति व मानव जगत के सौन्दर्य को कला के जगत में लाकर उसका जीवंत रसानुभाव कराता है । यही कवि की सौन्दर्य सम्बन्धी वास्तविक गतिविधि है । सौन्दर्य की उच्च व वास्तविक अभिव्यक्ति मनोवैज्ञानिक धरातल से ऊपर उठकर ही हो सकती है ।[२]

(ग) <u>सौन्दर्य की सामान्य विशेषतायें</u> -

सौन्दर्य का सर्वप्रथम गुण है आकर्षण । इतना ही नहीं, यदि सौन्दर्य दृष्टा में भी आकर्षणीयत्व न हो तो स्वयमेव वस्तु का आकर्षण का गुण मात्र ही पर्याप्त न होगा । प्रमाता (दृष्टा) तथा प्रमेय (दृश्य) के इस पारस्परिक सम्बन्ध में प्रमाता का इन्द्रिय व्यापार भी निहित है । दृष्टा आंख, कान, व त्वचा आदि के माध्यम से (यदि सौन्दर्य कलागत अथवा काल्पनिक हो तो मन से) सौन्दर्य की अनुभूति ग्रहण करता है । इन्द्रिय - व्यापार की सहायता

---

१. वर्ड्सवर्थ ने कविता को 'The finer spirit of all knowledge' कहा है ।

2. "Emotions are feelings which have risen or been raised from the status of sensation to what we may call a higherlevel, higher not morally but in the sense that they presuppose the 'lover' and or not presupposed by them. We are often opt to think that they are only possible for beings rational as well as sensuous, and it may be observed that we also think onlysuch beings capable of aesthetic expression." - E.F. Carrit.
- 'An Introduction to Aesthetics ' - P. 66.

से दृष्टा अपने मन में सौन्दर्य की परम अनुकूल भावना का अनुभव करता है। दृष्टा सौन्दर्य को देखकर जब भावों से अभिभूत हो जाता है तो वे भाव उसके वस्तु-दर्शन, आलिंगन, चुम्बन आदि व्यापारों में अभिव्यक्त होते हैं। ये ही चेष्टायें साहित्य में अनुभाव कहलाती हैं। सौन्दर्य की अनुभूति यहीं समाप्त नहीं हो जाती। सौन्दर्य को देखकर उसके प्रति आदर, फिर व्याकुलता और अतृप्ति, और अन्त में प्राप्ति की भावना सौन्दर्य-दर्शन के साथ ही भावों का यह क्रम रहता है।[१] प्रमेय के सौन्दर्य से अभिभूत होकर प्रमाता के हृदय में उसे अपनाने की चाह भी होती है। किन्तु अपनाने की चाह मात्र भी सौन्दर्य की अनुभूति को उच्च अनुभूति का रूप नहीं देती। आदर्शवादी दार्शनिकों की धारणा है कि सौन्दर्यपूर्ण पदार्थ को व्यक्तिगत स्थूल सुखोपभोग के लिये अपनाने की चाह जितनी ही न्यून होगी, सौन्दर्यानुभूति उतनी ही उज्जवल व उदात होगी। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य एक ईश्वरीय देन है। उपनिषद् में शारीरिक सौन्दर्य का सम्बन्ध भी ईश्वर के साथ ठहराया गया है।[२] इसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य भी ब्रह्म के नाते ईश्वरीय है।[३] कवि और दार्शनिक तो सौन्दर्य को वैज्ञानिकों की तरह बाह्य तथा आत्मवादियों की तरह आत्मा तक ही सीमित रखने में संतोष नहीं मानते। वे उसे जन्म-जन्मांतर से संबंधित करके उसकी अमरता - अनंतता की भी प्रतिष्ठा करते हैं। कालिदास ने सौन्दर्य की अनुभूति के साथ जन्मांतर का सम्बन्ध माना है।[४] इसी प्रकार अन्य कवियों व लेखकों ने भी किया है। भारतीय सौन्दर्य भावना के

---

१. डॉ० हर्षे, महाराष्ट्र के प्रमुख सौन्दर्यशास्त्री, 'समालोचक', सौन्दर्य-शास्त्र अंक, पृ० ९६.

२. "ताभ्य: पुरुषमानयन्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वावसुकृतम्---।
- ऐतरेय उपनिषद्, १।२।३

३. ऐतरेय उपनिषद् १।१।२, १।२।४

४. "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकी भवति,
यत्सुखितोपि जन्तु: तच्चेतसा स्मरति नूनयबोधपूर्वं जननान्तरसौहृदानि",
- अभिज्ञान शाकुन्तलम्, पंचम अंक, श्लोक २।

साथ पवित्रता या पापरहितता का नित्य सम्बन्ध है ।[१] सौन्दर्य के साथ गर्व आदि दुर्गुण भी नहीं रह सकते । भगवान् कृष्ण ने रासलीला के समय अन्तर्ध्यान होकर रूपगर्विता गोपियों को यही उपदेश दिया ।[२] कालिदास ने सौन्दर्य की उपयोगिता मानी भी है तो केवल अपने प्रिय को रिझाने में ही ।[३] कवियों की दृष्टि में सौन्दर्य का उपभोग सौभाग्य का एक लक्षण है ।[४] सूरदास की दृष्टि में सौन्दर्य अनिवर्चनीय है । वह हमें मानसिक द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है । सौन्दर्यानुभूति में नेत्र परमानन्द में लीन होने की एक हठ सी ठान लेते हैं ।[५] रूप की शक्ति इतनी है कि बुद्धि उसकी दासी ही बनकर रह सकती है ।[६] प्रसाद बाह्य सौन्दर्य को भी हृदय या आत्मा का ही प्रतिबिम्ब मानते हैं ।[७] आत्मा का सौन्दर्य पूर्व जन्म के संस्कारों[८] का ही परिणाम होता है, इस नाते बाह्य सौन्दर्य भी आत्मा का ही प्रकाशक हुआ । तुलसी की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा भी ऐसी ही उच्च है । सीता ने राम को जब देखा तो देखते ही ऐसा जान पड़ा मानो जन्म-जन्म की खोई हुई निधि

---

१. प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्ग : ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ।।
- कालिदास: कुमारसंभवम्, १।२८
सिय सुन्दरता बरनि न जाई । लघु मति बहुत मनोहरताई ।।
आवत देखि बरातिन्ह सीता । रूपरासि सब भांति पुनीता ।।
- तुलसी: रामचरितमानस, बालकाण्ड ।
भरे से पूरन कलस प्रेम-जल छुवन न काहू पाये । सूर

२. श्रीमद् भागवत: १०।२६।४८

३. निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।
- कुमार संभव, ५।१

४. भर्तृहरि: श्रृंगार शतक, ३५ ।

५. 'सूर ' स्याम के रूप महारस गोपी काहू ते न डरे । सूर
शोभा कहत कहै नहीं आवे ।

६. घनानन्द का 'रूप-चमूप ' से आरंभ होने वाला सवैया ।

७. हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त,
- मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल सुशोभित हो सौरभ संयुक्त ।
- कामायनी श्रद्धा सर्ग ।

८. श्रीमद् भगवद् गीता , ६।४५ पातंजल योगदर्शन, ३।१८

मिल गई है ।[१] महाकवि माघ, सूर, बिहारी आदि सौन्दर्य उसी को मानते हैं जो प्रत्येक क्षण बढ़े, चकित करने वाला हो, और नित्य नवीन रहे । कीट्स सौन्दर्य की कृति को शाश्वत आनन्द की वस्तु मानते हैं ।[२] सौन्दर्य का दर्शन करते ही सब कामनाएं पूर्ण हो जाती है ।[३] आश्चर्य और कुतूहल की भावना भी सौन्दर्य का एक बहुमूल्य उपकरण है ।अर्जुन भी कृष्ण के रुप का स्मरण करके बारम्बर विस्मय में निमग्न हो गये थे ।[४] सौन्दर्य का सम्बन्ध स्वाभाविक व अकथनीय रहस्य भावना से भी अत्यंत घनिष्ट है । संक्षेप में सच्चे सौन्दर्य में कोई न्यूनता अथवा निर्धनता नहीं होती, तथा उसके वर्णन में ब्रह्माण्ड भी सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं का उपयोग होता है । ये ही कुछ मुख्य सौन्दर्य की विशेषतायें हैं । भारतीय दृष्टि या आदर्शात्मक दृष्टि से जो सौन्दर्य इस कसौटी पर पूरा उतरता हैं, वही सच्चा सौन्दर्य है ।

` सौन्दर्य ` में कोमलता, नितनवीनता, आह्लादकता, माधुर्य, समता, सुडौलता, रमणीयता आदि तत्वों का समावेश होता है । उदात्त सौन्दर्य में मानव में व्याप्त आत्मा की अनन्तता, शक्ति, विशालता, उदात्तता तथा विराटता का दर्शन होता है ।`उदात्त ` के दर्शन के समय हम में एक आत्म लघुता की भावना भी होती है । यथा शिव के दर्शन से उनके उदात्त सौन्दर्य को देखकर मन चुपचाप अपनी लघुता स्वीकार करके मौन और विनत हो जाता है । महान् त्याग वीरता

---

१. `` देखि रुप लोचन ललचाने । हरषे जन निज निधि पहिचाने । ``
- तुलसी: मानस, बालकाण्ड

२. (क) ``क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया: ।``-माघ
(ख) स्याम सों काहे की पहिचानि ।
निमिष निमिष वह रूप न वह छबि रति कीजै जेहि जानि ।-सूर
(ग) लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरुर ।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर । - बिहारी

2. "A thing of beauty is a joy for ever
Its loveliness increases but
It will never pass into nothingness"-Keats,'Endymion'.

३. ``सबहि मनहि मन किए प्रनामा । देखि राममय पूरनकामा।-``तुलसी मानस ।

४. `` तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरे: ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुन: पुन: ।।- गीता, १८।७७।

(जैसे पद्मिनी का अग्निस्नान) आदि चरित्र-सौन्दर्य की हममें 'उदात्त' की रमणीय तथा शक्तिशाली अनुभूति उत्पन्न करता है । जीवन की विषम पीड़ाओं या कथाओं को चुपचाप पी कर पचा जाने और इसके द्वारा मुसकानमयी आनन्द साधना में लीन रहने में भी चरित्र का औदात्य प्रस्फुटित होता है ।[१]

'सुन्दर' के साथ 'कुरूपता' का विचार भी संगत है । वस्तुत: कुरूपता का सम्बन्ध किसी व्यक्ति वस्तु, दृश्य या स्थिति के बाह्य रूप से उनका नहीं है जितना हमारे मनोभावों से है । मजनू के लिये लैला, काली कलूटी होते हुये भी बहिश्त की परी थी । जिसका बाह्य रूप सुन्दर हो किन्तु उसमें आन्तरिक शील न हो तो वह कुरूप ही है । कुरूप व्यक्ति आन्तरिक भावों के सौन्दर्य से सुन्दर हो जाता है । नीति, आदर्श या किसी उदात्त भावना से प्रेरित क्रोध आदि विकार भी, उसके लक्ष्य को देखते हुए, सौन्दर्य की मोहकता धारण कर लेता है । इस प्रकार रूप-कुरूप का अंतिम निर्णायक हमारे मनोभाव ही हैं ।

सौन्दर्य के विविध रूप -

सौन्दर्य का विस्तार मुख्यत: चार रूपों में देखा जाता है - (१) मानवीय सौन्दर्य, (२) प्राकृतिक सौन्दर्य, (३) वस्तुगत सौन्दर्य तथा (४) कलागत सौन्दर्य । मानवीय सौन्दर्य दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - (१) स्त्री सौन्दर्य तथा (२) पुरुष सौन्दर्य । स्त्री सौन्दर्य - स्त्री सौन्दर्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है - (१) स्थूल व (२) सूक्ष्म । स्थूल में बाह्य सौन्दर्य व सूक्ष्म में अन्त: सौन्दर्य या शील समाविष्ट है । दोनों मिलकर ही पूर्ण सौन्दर्य की भावना कराते हैं ।

---

१. डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, पृष्ठ १७४

स्त्री के स्थूल सौन्दर्य के अन्तर्गत उसके अंगों, वेशभूषाओं, आभूषणों, अनुलेपनों व चेष्टाओं का वर्णन होता है। अंगों के वर्णन में उनका गठन, स्निग्धता, सुढ़रता, सुडौलता, मृदुलता या सुकुमारता, पुष्टता तथा आयु, वर्ण, कद, स्वास्थ्य आदि का वर्णन होता है।[१] साहित्याचार्यों ने नायिकाओं के शरीर के कुछ स्वाभाविक गुणों (शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य व धैर्य आदि) को 'अनुभाव' (अयत्नज अलंकार) के अन्तर्गत रखा है।[२] स्त्रियों के परिधानों का भी साहित्य में विस्तृत वर्णन होता है। इसमें वस्त्रों के रंगों आदि पर भी विशेष ध्यान रखा जाता है। आभूषणों के वर्णन में धातुओं व पुष्पों के आभूषणों का पर्याप्त वर्णन होता है। कालिदास ने अपने ऋतुसंहार, रघुवंश, कुमारसंभव तथा मेघदूत आदि काव्यों में फूलों के आभूषणों का यथेष्ट वर्णन किया है और धातुओं के आभूषणों का वर्णन तो सर्वत्र प्राप्त होता है। शरीर की चेष्टायें (वाणी मुस्कान, भ्रूनिक्षेप, अंगसंचालन, पदक्षेप आदि) सौन्दर्यवर्धन में बहुत सहायक होती है। अंगज अलंकार (भाव, हाव, हेला)[३] तथा स्वभावज अलंकार[४] (जिनकी संख्या १८ है, लीला, विलास, विच्छित्ति आदि) के अन्तर्गत अन्य शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन स्त्री सौन्दर्य वर्णन के अन्तर्गत रहा है। इस तरह स्त्री-सौन्दर्य के बाह्य रूप भरा पूरा विवरण साहित्य में पर्याप्त है।

सूक्ष्म सौन्दर्य के अन्तर्गत स्त्रियों के शील आदि का निरूपण किया जाता है। भवभूति, कालिदास, रवीन्द्र, प्रसाद, हरिऔध, गुप्तजी आदि भारतीय कवियों ने शील को ही सबसे अधिक महत्व दिया है।[५]

---

१. पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिका, 'परिशिष्ट' में 'स्त्रीरूप'।
२. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण : ३।९० ।
३. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण , ३।८६ ।
४. वही , ३।९१-९२ ।
५. भवभूति : मालतीमाधव, ६।१८, उत्तररामचरित ३।१३ आदि ।

विदेशी साहित्य में भी इसके भव्य उदाहरण मिलते हैं - जैसे, शेक्सपीयर की डेस्डेमोना आदि शील के अन्तर्गत हम सच्चरित्रता, मर्यादा, लज्जा, सेवा, दया, त्याग, समर्पण, करुणा, उदारता व विनम्रता आदि गुणों को रख सकते हैं। इस सौन्दर्य के अभाव में भारतीय नारी का सौन्दर्य निस्सार समझा गया है। इसके अतिरिक्त उसकी आत्मा या मन के सौन्दर्य का विस्तार, उसकी कल्पना व भावना का सौन्दर्य (जो उसका कला-प्रेम व्यक्त करता है), कर्म सौन्दर्य आदि तक भी जा पहुंचता है। आपत्काल में शस्त्र धारण करके रणचंडी का रूप धारण करने वाली वीर नारियों का सौन्दर्य भी नारी सौन्दर्य के अन्तर्गत ही है। यह सौन्दर्य उनकी शोभा और महिमा को द्विगुणित कर देता है। स्थूल और सूक्ष्म सौन्दर्य मिलकर ही नारी सौन्दर्य की पूर्णता की भावना कराते हैं।

पुरुष सौन्दर्य - इसी प्रकार पुरुष - सौन्दर्य का भी साहित्य में महत्व है किन्तु उसका चित्रण अपेक्षाकृत कम ही होता है। स्त्रियों की तरह पुरुषों के बाह्य रूप-सौन्दर्य का उतना महत्व नहीं, जितना उनके कर्म-सौन्दर्य (लोककल्याण के लिये पुरुषार्थपूर्ण काय, जैसे दुष्टदमन, अनाथरक्षण, दीनहीन अबाला रोगी या असहायों का त्राण) या शील सौन्दर्य का। पुरुष का कर्मसौन्दर्य विदेशी व भारतीय साहित्य में प्राय: रणक्षेत्र के बीच ही जाकर दिखाया गया है। उसके प्रताप, बल व ओज आदि के वर्णन का भी पर्याप्त महत्व है। किन्तु बाह्य वीरता से बढ़कर जीवन में आन्तरिक वीरता के उदाहरण हमें देखने को मिलते है। इन्द्रिय-संयम, अहिंसा, क्षमा, कष्टसहिष्णुता, कर्तव्य परायणता, परदु:खकातरता, आदर्श के लिये जीवन का विसर्जन, सत्याग्रह, सेवा-परायणता व त्याग आदि गुणों में पुरुष का वास्तविक सौन्दर्य खिल उठता है। आधुनिक युग में जबकि विज्ञान के कारण पुरुष को रणक्षेत्र में जाकर अपने सौन्दर्य प्रदर्शन का बहुत कम अवसर शेष रह गया है, अत: सौन्दर्य का महत्व '(गांधी, टाल्सटाय ' आदि के प्रभाव से) बहुत बढ़ा हुआ दिखाई पड़ रहा है। आत्मकल्याण और लोककल्याण की उच्चता में ही साधु पुरुषों के जीवन का सौन्दर्य देखा जाने लगा है। पर यह सौन्दर्य वस्तुत: कोई नया

नहीं है । सब युगों में और सब देशों में यह सौन्दर्य प्रकट होता रहा है ।

शिशु के रूप सौन्दर्य का साहित्य में एक सुनिश्चित स्थान है । साहित्य में प्राय: वय: प्राप्त नामक नायिकाओं के ही सौन्दर्य का विशेष वर्णन हुआ है । बाल-सौन्दर्य में बालक का रूप लावण्य व उसकी चेष्टाओं का ही महत्व पूर्ण स्थान रहता है । बच्चे के आन्तरिक सौन्दर्य (निष्कपटता, भोलापन, सरलपन, निरालापन आदि) का वर्णन भी सूर, पंत व वर्ड्सवर्थ आदि कवियों ने किया है ।

संक्षेप में यही मानव सौन्दर्य की मुख्य विशेषताएं व उसका विस्तार है । सौन्दर्य के क्षेत्र में इस सौन्दर्य के पूरक अन्य प्रकार के सौन्दर्य भी हैं जो काव्य में पूरा पूरा महत्व रखते हैं ।

प्राकृतिक सौन्दर्य -

प्रकृति की सब विशेषतायें उसके मुख्य गुण - सौन्दर्य पर आश्रित है । इस सौन्दर्य का बहुत बड़ा अंश तो उसका बाह्यरूप - छाया, प्रकाश, रंगों की चमक-दमक, शीतलता, उज्जवलता, पवित्रता, माधुर्य आदि है और शेष (प्राणभूत) उसमें से प्रकाशित होने वाली अनादि आत्मा । चिरकाल से प्रकृति हमें अन्न, जल, पवन, प्रकाश आदि स्वास्थ्यप्रद तथा जीवनोपयोगी प्रभूत सामग्रियां प्रदान करती आई है । इस उपयोगिता के कारण भी, जाने या अनजाने में, वह हमारे लिये सुंदर व रमणीय हो गई है । वस्तुत: मानव जगत् व वस्तुओं का सौन्दर्य भी प्रकृति पर ही आश्रित है ।

प्रकृति के सौन्दर्य से ही आकृष्ट होकर साहित्यकार व कवि अपने वर्णनों (मानव-रूप सौन्दर्य तथा संश्लिष्ट प्रकृति वर्णन) को सजीव और काव्य की शैली को सुंदर तथा परिपुष्ट बनाने के लिये प्रकृति से भरपूर सामग्री ग्रहण करता है । काव्य में प्रकृति का यह ग्रहण अनेक रूपों में होता है - (१) आलम्बन रूप में (२) उद्दीपन रूप में (३) मानवीकरण में (४) अलंकार विधान में, (५) प्रतीक विधान में, (६) रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के लिये, (७) नैतिक उपदेश - प्रकाशन के लिए तथा, (८) पृष्ठभूमि

और वातावरण की सृष्टि के लिये ।

आलम्बन - जब प्रकृति के सभी प्रकार के पदार्थ कवि के प्रति भाव के स्वतंत्र आलम्बन हो जाते हैं और वे उसकी अन्त: सत्ता पर व्यापक और गंभीर प्रभाव स्थापित कर लेते हैं । तभी यह रुप पूर्णतया प्रतिष्ठित होता है । प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण करने पर दो ही स्थितियां हो सकती हैं - (१) कवि प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम-भाव की व्यंजना करें, (२) अथवा वह चित्रकार की सी आंख से प्रकृति का शब्द चित्रण करें । इस दृश्य - चित्रण में निम्नलिखित रुपों में कवि की सूक्ष्मदर्शिता प्रकट होती है - प्रकृति का रूप विस्तार - पृथ्वी, आकाश, समुद्र, पर्वत, मैदान, मरुभूमि, कुंज, पेड़, पौधे, लता-पत्र, छाया, घास-पात, फल-फूल, पशुपक्षी, समुद्र, झील, नदियां, मेघ, बिजली, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा, वर्षा, पवन, आकाशगंगा, उषा सन्ध्या, धूप चांदनी, इन्द्रधनुष, कोहरा धुआं इत्यादि इस दृश्यप्रसार में सम्मिलित हैं । इनके चित्रण में इनका उल्लेख ही पर्याप्त नहीं होता, किन्तु तूलिका कौशल के द्वारा इनका सूक्ष्म चित्रण अभीष्ट होता है । इसमें कवि वस्तु व्यापारों की सूक्ष्म गतिविधि का निरीक्षण करके अंकन करता है । काव्य-चित्रों में पूरी सजीवता लाने के लिये कवि रंगों की संवेदना भी उत्पन्न करता है । नाद-व्यंजना, गंध की संवेदना तथा स्पर्श की संवेदना भी आलम्बन के अन्तर्गत कविजन कराते हैं । यह रुप प्रकृति - निरूपण के रूपों में सबसे अधिक महत्व का है ।

उद्दीपन - इसमें कवि का प्रकृति के प्रति स्वतंत्र अनुराग व्यक्त न होकर मानव-सापेक्ष रुप ही प्रकट होता हैं । प्रकृति मानव के सुख में सुखी व दु:ख में दु:खी दिखाई जाती है । उद्दीपन रुप में प्रकृति जड़ भी हो सकती हैं और चेतन भी । प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग उसका एक अत्यंत व्यापक प्रयोग है ।

मानवीकरण - मानवीकरण के लिये प्रकृति को एक चेतन सत्ता के रूप में कल्पित करना अनिवार्य है । मानवीकरण का अर्थ है प्रकृति या उसके पदार्थों को चेतन मानव की तरह व्यवहार करते - हंसते, बोलते, गाते व रोते दिखाया जाय । कवि कभी कभी तो केवल उनकी चेष्टाओं का वर्णन मात्र करके ही सन्तुष्ट हो जाता है किन्तु कभी कभी पारस्परिक काल्पनिक संभाषण आदि अन्य व्यवहारों की भी कल्पना करता है ।

अलंकार-विधान - प्रकृति अलंकरण (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) के लिये भी प्रचुर सामग्री प्रदान करती है । काव्य में प्रसिद्ध उपमान कवि को प्रकृति के क्षेत्र से ही प्राप्त होते हैं ।

प्रतीक-विधान - प्रतीक के कुछ रमणीय पदार्थ उदात्त भावनाओं की व्यंजना करते हैं । ये पदार्थ उपमानों के रूप में ही प्रयुक्त नहीं होते किन्तु मानव हृदय में परम्परा से सुप्त हमारी अनेक सूक्ष्म भावनाओं को भी जगाते हैं । दीप की लौ, चातक, किरण, कमल, चन्द्रमा, मीन आदि पदार्थ क्रमश: मूकव्यथा, आतृप्त तृष्णा, आनन्द का प्रकाश, पवित्रता, शीतलता, तड़प आदि मानसिक स्थितियों के प्रतीक हैं । इन प्रतीकों में हृदय को वेग पूर्ण आलोड़ित करने की गहरी क्षमता संचित है ।

रहस्यसत्ता की अभिव्यक्ति - इसके लिये प्रकृति का घनिष्ठ सामीप्य और अनुशीलन अनिवार्य है । जिज्ञासा व कौतूहल की वृत्ति मानव की एक मूल वृत्ति है जो सभी में न्यूनाधिक रूप में पाई जाती है । प्राकृतिक सौन्दर्य विशेष रूप से उस महान अमर सत्ता (ईश्वर) की विभूति के प्रकाशन का निकटतम माध्यम समझा गया है ।

उपदेशात्मकता - प्रकृति के अनेक क्रिया-कलाप दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं ।

पृष्ठभूमि व वातावरण सृष्टि - प्रबन्ध काव्यों में किसी गंभीर स्थिति या प्रसंग के उपक्रम स्वरूप तथा भावोत्कर्ष के लिये प्रकृति के द्वारा पृष्ठ-भूमि व वातावरण का निर्माण भी होता आया है । पृष्ठभूमि चित्रण में कवि मानव जीवन व प्रकृति के वैषम्य अथवा विरोध या साम्य की एक झलक

देकर मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करता है । संक्षेप में, पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित प्रकृति दृश्य या चित्र के अलंकरण अथवा किसी गहरे संकेत के लिये प्रयुक्त होती है जबकि वातावरण रूप में चित्रित प्रकृति का गहरा प्रभाव पात्रों के चरित्र पर घटित करके दिखाया जाता है ।[1]

साहित्य में प्रकृति के ये विविध प्रयोग मूलत: उसके सौन्दर्य के ही कारण होते हैं ।

वस्तुगत सौन्दर्य -

मानव-सौन्दर्य तथा प्रकृति-सौन्दर्य के अतिरिक्त एक प्रकार का सौन्दर्य और भी होता है जो आविष्कार बुद्धि से उत्पन्न मानकृत वस्तुओं में पाया जाता है । उस सौन्दर्य को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं - (१) मानवकृत उपयोगी वस्तुओं का सौन्दर्य, और (२) मानव-कृत कलाकृतियों का सौन्दर्य । पलंग, मेज, कुरसी, पुस्तक, रूमाल, अंगूठी आदि में पहले प्रकार का, और किसी सुन्दर नगर, प्रासाद, मंदिर, कपड़े पर कढ़े बेलबूटे या डिज़ाइन आदि में दूसरे प्रकार का सौन्दर्य होता है ।

कलागत सौन्दर्य -

कलागत सौन्दर्य मनोजगत् का सौन्दर्य है जिसकी सामग्री बाह्य जगत् (मानव जगत् तथा प्रकृति जगत्) से प्राप्त होती है । बाह्य जगत की सामग्री जब अन्त:करण (बुद्धि, भावना, कल्पना अनुभूति आदि का केन्द्र) में जाकर और वहां की विशिष्ट प्रक्रियाओं में से निकलकर, बाहरी जगत् में चित्र, संगीत, काव्य आदि रूपों में पुन: लौट कर आती हैं तब वह कलागत सौन्दर्य से सम्पन्न कही जाती है । इस प्रकार कला अपनी

---

१. डॉ० खण्डेलवाल, आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य - पृ० १८६ ।

मूल रूप से पर्याप्त परिवर्तित रूप में आकर उपस्थित होती है । इस परिवर्तन में ही वह सौन्दर्य उत्पन्न होता है जिसकी सृष्टि, उच्चकोटि के आनन्द के लिए, कलायें करती हैं ।

प्रेम और सौन्दर्य का पारस्परिक संबंध -

प्रेम और सौन्दर्य ये दोनों शब्द प्राय: सहगामी रहते हैं । जहाँ प्रेम है वहाँ सौन्दर्य रहता है जहाँ सौन्दर्य है वहाँ प्रेम । प्रेम और सौन्दर्य का संबंध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, अर्थात् 'सौन्दर्य' प्रेम में ही निहित रहता है । सौन्दर्य 'आलम्बन' (वस्तु, व्यक्ति आदि) का धर्म है और प्रेम आश्रय की भावना । वास्तव में दोनों अपनी सार्थकता के लिये एक दूसरे पर पूर्णतया आश्रित हैं । दोनों ही अपने-२ स्थान पर महत्वपूर्ण है । यदि एक ओर प्रेमदृष्टि व्यक्ति या वस्तु में कुछ नवीनता और सौन्दर्य भर देती है, तो दूसरी ओर सौन्दर्य ही प्रेम का मूल और समग्र जीवन-स्पंदन है । प्रेम, सौन्दर्य से ही जीवन-रस ग्रहण कर सौन्दर्य में ही पर्यवसित होता है, क्योंकि प्रेम स्वयं भी आन्तरिक सौन्दर्य का चरम निदर्शक है ।

आदर्श व सच्चे सौन्दर्य की अनुभूति में प्रेम ही सहायक होता है ।[१] हम सच्चे प्रेम के कारण ही किसी वस्तु को पूर्ण सुंदर देख पाने में समर्थ होते हैं, वस्तुत: प्रेम ही सौन्दर्य का जनक है ।[२] वस्तुत: संयत विचारक प्रेम और सौन्दर्य, इन दोनों को अन्योन्याश्रित समझ कर उनमें आदर्श सामंजस्य स्थापित कर देते हैं ।[३] प्रेम और सौन्दर्य का यही संबंध है ।

---

1. "In the acquisition of this blessing (Ideal beauty) human nature can find no better helper than love."
 - Plato: Symposium, P. 95.
2. The lovely is primary that which is loved."
 - Will Durant: Mansions of Philosophy, P. 292.
३. पं० रामचंद्र शुक्ल: चिन्तामणि, भाग १, (सन १६३६), पृ०२२८-२२६ ।

प्रेम

' प्रेम ' एक ऐसी भावात्मक अनुभूति है जिसे शब्दों के माध्यम से समझना सम्भव नहीं । देवर्षि नारद ने इसी तथ्य को स्वीकार करते हुये लिखा है - प्रेम का स्वरूप अनिवर्चनीय हैं, गूंगे के स्वाद की भांति ।[१] विभिन्न कवियों ने भी प्रेम और प्रेमी जनों के संबंध में कुछ ऐसी ही उक्तियां कही हैं ।

(१) संस्कृत साहित्य में प्रेम का स्वरूप -

कालिदास - कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचैतनेषु - मेघदूत,श्लोक-५

निस्सदेह प्रेम से संतप्त प्राणी चेतन और जड़ का भेद करने में असमर्थ होते हैं । कालिदास ने प्रेम से पीड़ित प्राणियों की स्थिति बतलाई है । कवि शूद्रक ने प्रेम को कोई जबरदस्ती या दवाब का कारण नहीं,अपितु वह तो स्वभाविक ढंग से एवं गुणों पर आधारित माना है । इसकी पुष्टि करते हुए कहा है - `` प्रेम बलात् उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वह तो गुणों से स्वयं उत्पन्न होता है । ``

गुणाः खलु अनुरागस्य कारणम् न पुनर्बलात्कारः -

- मृच्छकटिक अंक १, पृ० ४४ ।

महाकवि भवभूति ने प्रेम को अज्ञात कारण मानते हुये कहा हे -

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु, न खलु
बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते, - (उत्तर०राम०६।१२)

अर्थात् यह तो कोई अज्ञात ही कारण है जो दो हृदयों को मिला देता है, किसी बाह्य कारण - सौन्दर्यादि पर प्रेम आश्रित नहीं ।

कवि राजशेखर ने प्रेम को आनन्द का स्त्रोत निरूपित करते लिखा है -

`` जिस भाव के उत्पन्न होने पर दो व्यक्तियों का मन विचार संशय आदि भावों से शून्य हो जाता है, जिससे आनन्द का स्त्रोत-सा बहने लगता है वह भाव प्रेम कहलाता है ।``[२]

---

१. अनिवर्चनीय प्रेम स्वरूपम् । मूकास्वादनवत्-नारद भक्ति सूत्र ५१-५२

२. कर्पूर-मंजरी ३।१० ।

(२) हिन्दी साहित्य में प्रेम का स्वरूप -

विद्यापति ने प्रेम का उल्लेख करते हुये कहा है -

एहि संसार सार बथु एक । तिला एक संगम जावजिब नेह ।

(विद्यापति - पदामृत)

अर्थात् संसार में सार वस्तु एक ही है तिल भर का संगम और जीवन पर्यन्त बना रहने वाला प्रेम । आगे विद्यापति कहते है -

`` प्रेमक गति दुरवार । ``

प्रेम की गति अत्यंत विचित्र होती है । सज्जनों के प्रेम का वर्णन करते हुये कवि कहते हैं -

`` सुजनक प्रेम हेम समतूल । दहइत कनक दिगुन होय मूल । ``

अर्थात् सज्जनों का प्रेम स्वर्ण के तुल्य होता है जो दुःख की आंच में पड़कर द्विगुणित हो जाता है । प्रेम की गुप्तता पर बल देते हुये विद्यापति कहते हैं -

`` राखए चाहिअ गुपुत सनेह, एहि सिनेह कर सौत । ``

(विद्यापति - पदामृत)

अर्थात् प्रेम को गुप्त रखना चाहिए, दूसरों से जितना छिपाओगे, स्नेह का स्त्रोत उतना ही बढ़ेगा ।

कबीर ने प्रेम की स्थिरता पर बल देते हुये कहा है कि जो प्रतिपल, प्रतिदिन एवं प्रत्येक घड़ी बदलता रहता है वह प्रेम नहीं प्रेम तो अपनी स्थिति एक समान रखता है वही प्रेम है -

`` छिनहिं चढ़ै, छिन उतरै सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ।। ``

मीरा ने प्रेम की अनुभूति को महत्व देते हुये कहा है -

`` घायल की गत घायल जाणै, जै किण घायल होइ ।`

बिहारी ने भी प्रेम को अनुभव गम्य माना है और कहा है -

``या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय ।`

घनानन्द के अनुसार - ``अति सूधो सनेह को मारगु है ।`
बोधा प्रेम मार्ग की जटिलता का वर्णन करते हुये कहा है -
``प्रेम को पंथ कराल महा तलवार की धार पै धावनो है ।`
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुसार -`मारग प्रेम को को समझै,
हरिश्चन्द यथारथ होत यथा है ।

इसी प्रकार से पश्चिमी साहित्य में भी प्रेम के स्वरूप की विवेचना मिलती है ।

शेक्सपीयर ने प्रेम को बाह्य न मानकर आन्तरिक माना है, इसलिये कहा है -
`प्रेम नहीं देखता आँखों से, वह देखता है दिल से,
यही तो बस कारण है - क्यूपिड की तस्वीर होती है अन्धी ।[1]
ड्राइडन ने प्रेम को मन की दुर्बलता बताते हुये कहा -
``मानव मन की सबसे सुंदर दुर्बलता प्रेम है ।`[2]
मारलो, प्रथम दृष्टि के प्रेम को महत्व देते हुये कहते हैं -
`जिसने प्रथम दृष्टि में प्रेम नहीं किया, उसने प्रेम ही क्या किया ।[3]
वर्ड्सवर्थ प्रेम की शक्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं -
``सुन्दरतम को भी अधिक सुन्दर बना देता है प्रेम ।`[4]
शैली प्रेम में आदान प्रदानता को महत्व देते हं -
`प्रेम का देना और लेना - दोनों ही मधुर हैं ।[5]
पी०जे० बैली के अनुसार -``मत पूछो कि प्रेम क्या है ? पूछो कि ईश्वर में सबसे अच्छा क्या है ।`[6]
रोजेटी ने ज्ञान और प्रेम की तुलना करते हुये कहा है -
``ज्ञान शुष्क है, प्रेम मधुर है ।`[7]

---

1. Love looks not with the eyes, but with the mind
And therefore is winged Cupid painted blind.
-Shakespeare, A Midsummer Night's Dream.
2. Love is the noblest frailty of the mind-Dryden, Indian Emperor.
3. Whoever loved that loved not at first sight.
-Marlowe, Hero and Leander.
4. Love betters what is best - Wordsworth, Sonnets.
5. All love is sweet, given or returned.
-Shelley, Promotheus Unbound.
6. Ask not of me love, what is love?
Ask what is good of God above. - P.J. Bailey.
7. Knowledge is strong but love is sweet - Christina-
Rossetti, Convent Threshold.

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रेम की महत्ता, उसकी उत्पत्ति के कारण, उसके मार्ग की कठिनाइयों और उसके स्वरूप की विशेषताओं के संबंध में कई अनुभूतिपूर्ण बातें कही गई हैं तथा उसके कई गुणों - स्थिरता, गंभीरता, अनिर्वचनीयता आदि पर प्रकाश डाला गया है - किन्तु फिर भी इन उक्तियों में व्यंजित तथ्य कहीं-कहीं इतने अस्पष्ट एवं परस्पर विरोधी हैं कि उनसे प्रेम का स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पाता। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्व व पश्चिम के इन सभी कवियों ने प्रेम को स्थूल इन्द्रियों तक ही कहीं भी सीमित नहीं रखा है, प्रत्युत् उसे मन के सूक्ष्म व उदात्त स्तरों तक उठाया है।

'प्रेम' शब्द एक अत्यंत व्यापक शब्द है जो इसके विविध अर्थों की व्याप्ति द्वारा विदित होता है। मनोविज्ञान के अनुसार प्रेम एक भावना (Sentiment) विशेष है। जब एक व्यक्ति का आकर्षण दूसरे व्यक्ति के प्रति इतना बढ़ जाता है कि उसकी प्राप्ति, उसका सानिध्य, उसकी सुरक्षा और उसकी प्रसन्नता में ही उसे सुखानुभूति होने लगती है,[1] तो इस मनोवृत्ति को प्रेम कहते हैं। प्रेमी को अपने प्रिय के व्यक्तित्व से इतना आकर्षण हो जाता है कि वह उसके जीवन का चरम-उद्देश्य बन जाता है।

सृष्टि के सृजन, विकास एवं संहार के मूल में जड़ चेतन का यह पारस्परिक आकर्षण ही कार्य करता है। हमारी विभिन्न वृत्तियों से मिलकर आलम्बन भेद से यही आकर्षण अनेक रूप धारण करता है अतः इसके कई भेद किये जा सकते जो निम्न हैं -

१- अपने से बड़े व्यक्ति के प्रति श्रद्धा भावना होती है और प्रेम का स्वरूप भक्ति होती है।

२- समवयस्क समलैंगिक व्यक्ति के प्रति साहचर्य की भावना होती है और प्रेम के रूप में मित्रता होती है।

३- समवयस्क भिन्न लैंगिक व्यक्ति के प्रति काम भावना होती है और उनमें प्रणय होता है।

---

१. अकिंचिदपि कुर्वाण: सौख्यैर्दु:खान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जन: ।।
- उत्तर-रामचरित २।१९

४- अपने से छोटे के प्रति कृपा भाव और स्नेह होता है ।

५- अपनी सन्तान के प्रति वत्सलता की भावना होती है और वात्सल्य रूप में प्रेम होता है ।

६- सामान्य दुःखी के प्रति सहानुभूति की भावना होती है और करुणा उमड़ पड़ती है ।

७- अप्राप्त निर्जीव पदार्थ के प्रति संचयशीलता का भाव होता है तथा लोभ विद्यमान रहता है ।

८- प्राप्त पदार्थ के प्रति संचयशीलता और मोह की वृत्ति रहती है ।

यद्यपि 'प्रेम' शब्द व्यापक अर्थ में आकर्षण के उपर्युक्त भेदों- भक्ति, मित्रता, स्नेह आदि के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु संकुचित अर्थ में भिन्न लैंगिक व्यक्तियों के काम समन्वित प्रणय या दाम्पत्य भाव को ही प्रेम कहते हैं, जो कि श्रृंगार रस से सम्बन्धित है । यहाँ हम प्रेम को इस संकुचित अर्थ में ही ग्रहण करेंगे ।

(३) <u>प्रेम के विविध स्वरूप</u> -

जैसा कि ऊपर उल्लेखित है दाम्पत्य-प्रेम के लिये दो आवश्यक बातें हैं - आश्रय और आलम्बन का भिन्न लैंगिक होना और उसमें काम वासना का मिश्रण । दो भाई-बहिन भिन्न लैंगिक होते हुये भी उनके सम्बन्ध में काम वासना का स्थान नहीं होता, अतः उसे श्रृंगार रस के क्षेत्र में नहीं ले सकते । प्रेम के अन्य रूपों (भक्ति, वात्सल्य, स्नेह आदि) में से किसी में भी इन दो विशेषताओं का समावेश नहीं होता, किन्तु किसी प्रकार उनमें भी इनका प्रवेश हो जाय तो वह दाम्पत्य प्रेम में परिणत हो जायेगा । प्रेम के अन्य स्वरूपों में मिश्रित होने वाली सभी वृत्तियाँ - श्रद्धा, साहचर्य, कृपा, सहानुभूति आदि से काम प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है, अतः दाम्पत्य प्रेम, भक्ति वात्सल्यादि सबसे अधिक सघन एवं गंभीर होता है । जिस प्रेम में काम प्रवृत्ति का अन्य वृत्तियों से संघर्ष हो वहाँ भी इसी की विजय होगी ।

प्रेम के अन्य स्वरूपों से प्रणय में और भी कई विशेषतायें मिलती हैं । भक्ति, स्नेह, वात्सल्य आदि भावों का विकास धीरे-धीरे किसी

निर्दिष्ट कारण से होता है किन्तु प्रणय के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती । उसकी उत्पत्ति एकाएक प्रथम दर्शन मात्र से हो सकती है - तथा उसका कारण भी कई बार अस्पष्ट होता है । दूसरे, भक्ति, मैत्री आदि में एक ही आलम्बन से कई पात्र एक साथ प्रेम कर सकते हैं, उससे किसी को कोई दु:ख नहीं होगा किन्तु प्रणय में ऐसा सम्भव नहीं । तीसरे, प्रेम के अन्य रूपों को और उनसे सम्बन्धित क्रिया-कलापों को गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती - आप सबके सामने अपने आराध्य की भी भक्ति कर सकते हैं, मित्रों से हँसी, खेल, वार्तालाप कर सकते हैं, बच्चों से प्यार कर सकते हैं- किन्तु प्रणय में स्थिति इसके विपरीत है । चौथे, प्रेम के अन्य भेदों में आलम्बन का गहरा सानिध्य उतना आवश्यक नहीं, जितना कि प्रणय में है । पांचवे, भक्ति, वात्सल्य, स्नेह, करुणा आदि से आलम्बन में भी इन्हीं भावों की उत्पत्ति नहीं होती, जबकि प्रणय से प्रणय का ही स्फुरण होता है । अत: सम्प्रेषणीयता का यह गुण प्रेम के अन्य स्वरूपों में नहीं मिलता । इसके अतिरिक्त भक्ति आदि भाव सभी व्यक्तियों और सभी प्राणियों में विकसित हों यह संभव नहीं किन्तु प्रणय का विकास तो पशु-पक्षियों तक में देखा जाता है । अस्तु, इसमें संदेह नहीं कि प्रणय प्रेम के अन्य रूपों में अधिक व्यापक, अधिक गंभीर एवं अधिक दृढ़ भाव है ।

(४) प्रेम के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण -

प्रेम (प्रणय) के विषय में विद्वानों के दृष्टिकोण भी अलग अलग मिलते हैं । कुछ लोग जो आदर्शवादी हैं - लौकिक प्रणय को भी ईश्वर प्रेम या स्वयं ईश्वर के तुल्य महत्व देते हैं । हमारे यहां भवभूति और बाण ने उसे अत्यंत पवित्र एवं दिव्य माना है । दूसरी ओर सूफी एवं ईसाई रहस्यवादियों ने उसे अलौकिक प्रेम की प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वीकार किया है । १९वीं शताब्दी के यूरोपीय रोमांटिक कवियों ने भी इसे बहुत कुछ दैवी-प्रेरणा से प्रेरित अलौकिक अनुभूति के सदृश बताया है । आदर्शवादियों के विचारानुसार प्रेमोत्पत्ति का कोई कारण नहीं होता और न ही वह बाह्य-सौन्दर्यादि पर आश्रित होता है ।[१] वह सदा एक रस होता है ।

---

१. व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोऽपि हेतु -
न खलु बहिरुपाधीन प्रीतय: संश्रयन्ते ।" भवभूति (उत्तर-रामचरित)

प्रेमी-प्रमिकाओं की परिस्थितियों का परिवर्तन - यहाँ तक कि मृत्यु भी उसमें कोई अन्तर उपस्थित नहीं कर सकती ।[१] इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने वाले लोग प्रेम का उद्देश्य मनोरंजन या लौकिक सुख स्वीकार नहीं करते - वे प्रेम को प्रेम के लिये पूजते हैं ।

इसके विपरीत दूसरी ओर घोर यथार्थवादी दृष्टिकोण भी मिलता है जिसमें प्रेम को कामुकता के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं माना जाता । वे प्रेम को शारीरिक तृप्ति या मनोविनोद का साधन मात्र समझते हैं । उनके अनुसार प्रेम स्वत: उत्पन्न नहीं होता, सम्पर्क द्वारा उत्पन्न किया जाता है, वह स्थायी नहीं होता, परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है । इस दृष्टिकोण का विकास वर्तमान युग के सुशिक्षित वर्ग में-विशेषत: पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिक उन्नति, एवं पूंजीवादी सभ्यता के प्रभाव से हुआ है । बीसवीं शताब्दी के अनेक साहित्यकार भी इसी दृष्टिकोण के प्रचार से समाज की प्रगति करने की बात सोच रहे हैं ।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों में ही अतिवादिता है । एक यदि अति आदर्शवादी हैं तो दूसरा घोर यथार्थवादी । दाम्पत्य-प्रेम को काम-वासना से सर्वथा असम्पृक्त मानने वाले व्यक्ति भी उतनी ही बड़ी भूल करते हैं जैसी उसे कोरी कामुकता का पर्याय समझने वाले करते हैं । अस्तु, प्रेम कामुकता से सम्बन्धित होते हुये भी उससे बहुत कुछ भिन्न है ।[२] जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है । कामुकता केवल शारीरिक मिलन तक ही सीमित है, जबकि प्रेम में हृदय और मन का भी मिलन होता है, कामुकता अस्थिर, क्षणिक एवं चंचल होती हैं जबकि प्रेम में स्थिरता, दृढ़ता एवं गंभीरता का विकास होता है । कामुक व्यक्ति अनेकान्मुख होता है जबकि प्रेम में एकोन्मुखता होती है । जिस प्रकार दुग्ध और दधि मूलत: एक होते हुये भी प्रकृति एवं गुणों की दृष्टि से

---

१. बाण ने कादम्बरी में प्रेम की मृत्यु पर विजय दिखाई है ।
२. डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त - भारतीय साहित्य में श्रृंगार रस - पृ० ४६ ।

भिन्न होते हैं, ठीक ऐसा ही काम और प्रेम के सम्बन्ध में समझना चाहिये ।

(५) प्रेम की उत्पत्ति -

आदर्शवादी विचारकों ने प्रेम की उत्पत्ति बिना किसी कारण मानी है । काव्यशास्त्रियों ने प्रेमोत्पत्ति साधारणत: सुंदर आलम्बन के दर्शन से मानी है तथा इस दर्शन के भी कई प्रकार - चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन, प्रत्यक्ष दर्शनादि बताये हैं जिनका सार यही है कि सौन्दर्यानुभूति ही प्रेम की प्रेरक है । लेकिन विचार करने से ज्ञात होता है कि केवल सौन्दर्यानुभूति ही प्रेम के मूल में नहीं होती, वरन् सौन्दर्यानुभूति एक संवेदन मात्र है, जब इसके साथ सुन्दरी की प्रीति का विचार या इच्छात्मक तत्व मिश्रित होता है तो हमारी अनुभूति आकर्षण का रूप धारण कर लेती है । यह इच्छात्मक तत्व काम वासना से प्रेरित होता है यही कारण है कि दो सम-लैंगिक व्यक्तियों के सम्बन्ध में जहाँ कि काम-वासना के लिये स्थान नहीं होता, सौन्दर्यानुभूति प्रेमाकर्षण का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकती । दो भिन्न लैंगिक व्यक्तियों में भी आलम्बन और आश्रय की परिस्थितियों की अनुकूलता एवं उनके दृष्टिकोण के साम्य से ही इस प्रारम्भिक आकर्षण को स्थिरता मिलती है ।जब आश्रय को पता चल जाता है कि आलम्बन भी उसकी ओर आकृष्ट है तो यह आकर्षण स्थिर मनोदशा के रूप में परिणित हो जाता है जिसे हम प्रेम की आरम्भिक अवस्था कह सकते हैं । कई बार सौन्दर्याकर्षण के अतिरिक्त अन्य कारणों - जैसे कृतज्ञता, सहानुभूति, श्रद्धा या चिरसाहचर्य आदि में काम का मिश्रण होने से भी प्रणय का विकास देखा जाता हैं, किन्तु इस प्रकार का प्रेम, सौन्दर्यजनित प्रेम की अपेक्षा बहुत मन्द गति से विकसित है तथा वह प्रकृति की दृष्टि से उससे कुछ भिन्न तथा गुणों की दृष्टि से उससे हीन होता है । जैसी भावुकता, विह्वलता एवं तन्मयता, सौन्दर्यजनित प्रेम में होती है, उसका उसमें अभाव होता है ।[१]

---

१. डॉ० गणपतिचंद्र गुप्त, भारतीय साहित्य में श्रृंगार रस पृ० ५०

प्रेम का विकास -

प्रेमोत्पत्ति के अनन्तर, प्रेम का विकास भी कुछ बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर है । प्रेमोत्पत्ति के तुरन्त बाद प्रेमी और प्रेमिका का मिलन अमर्यादित, अनियंत्रित रहे तो कुछ दिनों के बाद उनका आकर्षण मन्द और प्रेम शिथिल पड़ जायेगा । दूसरी ओर प्रेमाकर्षण की उत्पत्ति के अनन्तर प्रेमी और प्रेमिका दीर्घ समय तक एक दूसरे से दूर रहे उन्हें निकट आने का अवसर ही न मिलें तो उनका प्रेम अविकसित रहेगा । अस्तु, प्रेमोत्पत्ति के अनन्तर अति उन्मुक्तता और अति नियंत्रण - दोनों ही उसके विकास को रोकते हैं । प्रेम के विकास के लिये सबसे अधिक अनुकूल परिस्थिति यह है कि प्रेमी और प्रेमिका मर्यादित एवं नियंत्रित रूप में एक दूसरे से मिलते रहें तथा वह मिलन शारीरिकता से असंपृक्त अर्थात् दर्शन वार्तालाप तक ही सीमित रहे ।

प्रेम की पूर्ण विकसित अवस्था में प्रेमी का हृदय एक ऐसी अनुभूति में तन्मय हो जाता है कि उसे प्रिय के व्यक्तित्व के अतिरिक्त किसी और का ध्यान ही नहीं रहता । प्रणय की ऐसी विकसित अवस्था में काम, अहं एवं स्वार्थ का विगलन हो जाता है और प्रेमी के रोमरोम से दैन्य, समर्पण एवं बलिदान की भावना व्यंजित होने लगती है ।

(६) प्रेम और समाज -

सामाजिक दृष्टि से प्रेम की उपयोगिता इसी से सिद्ध है कि वह दो अज्ञात और अपरिचित व्यक्तियों को मिलाकर उस दाम्पत्य जीवन का सूत्रपात करता है जिसे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन का मूलाधार कह सकते हैं । फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि समाज में जितने नियंत्रण प्रेम पर लगा रखे हैं उतने अन्य किसी मानवीय भावना पर नहीं । हम जितने चाहे व्यक्तियों से स्नेह, मैत्री, वात्सल्य एवं श्रद्धा का सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं किन्तु प्रेम किसी एक से ही कर सकते हैं । ऐसा क्यों ? इसके सम्बन्ध में हमें दो तथ्यों पर ध्यान देना चाहिए । पहला तथ्य तो यह है कि प्रेम में वह शक्ति है कि अपनी चरमावस्था में वह व्यक्ति के

ध्यान को संसार के समस्त विषयों से हटाकर एक ही व्यक्ति तक सीमित कर सकता है । निजी आवश्यकताओं का विचार, पारिवारिक समस्याओं की चर्चा, समाज के नियमों का निर्देश, नैतिकता का उपदेश - ये सब कुछ प्रेम विभोर हृदय के लिये प्रभाव शून्य हो जाते हैं । प्रेम ही एक ऐसी भावना है जहां व्यक्ति संसार से ही नहीं अपने प्राणों तक से विमुख हो सकता है । अत: मदमस्त गजेन्द्र जैसे इस सबल भाव को वश में करने के लिये समाज की मर्यादाओं एवं नियमों की शृंखला उसी के अनुरूप भारी से भारी एवं दृढ़ से दृढ़तर बनानी पड़ी । दूसरे, समाज का यह नियंत्रण स्वयं प्रेम के विकास में भी सहायक सिद्ध होता है । अनियंत्रित उच्छृंखल व अनेकोन्मुख प्रेम -प्रेम न रहकर कामुकता एवं रसिकता का पर्याय बन जाता है । स्वयंवर प्रथा, एक पत्नीव्रत पातिव्रत-धर्म तथा विवाह-विच्छेद सम्बन्धी नियमों एवं प्रथाओं का विकास मूलत: दाम्पत्य जीवन को सरस बनाए रखने के लिये ही हुआ था, यह अलग बात है कि आगे चलकर उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया ।

(७) प्रेम और साहित्य -

साहित्य का लक्ष्य पाठक को रसानुभूति करवाना है जो भावनाओं का स्फुरण द्वारा निष्पन्न होती है । प्रेम सबसे अधिक प्रबल भावना होने के कारण इस लक्ष्य की पूर्ति में साहित्यकारों का सबसे अधिक शक्तिशाली, साधन सिद्ध होता है । अन्य भावनाओं में रस के सारे अवयवों - भाव, विभाव, अनुभाव, संचारिभाव आदि - का चित्रण अपेक्षित होता है, किन्तु प्रेम ही एक ऐसा स्थायी भाव है जिसमें रस का कोई एक अवयव - आलम्बन के सौन्दर्य का केवल एक अंग, उसके हाव भावों की केवल एक झलक या आश्रय की केवल एक उक्ति अथवा मध्यस्थ दूत-दूतिकाओं का केवल एक संदेश ही पाठक को भाव विभोर करने में समर्थ हो सकता है । प्रेम में विरोधी और अविरोधी

सभी संचारी भावों का चित्रण अत्यंत स्वभाविकता से किया जा सकता है, इस तथ्य को प्राचीन आचार्य ही नहीं - आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं ।[१] यही कारण है कि चाहे लेखक का उद्देश्य राजनैतिक सिद्धान्तों का चित्रण करना हो या धार्मिक उपदेशों का वर्णन करना हो, चाहे वह गद्य में उपन्यास, नाटक लिख रहा हो या कविता में प्रबन्ध काव्य, खण्डकाव्य, मुक्तकाव्य या गीतिकाव्य की रचना कर रहा हो, वह प्रेम का चित्रण किसी न किसी रूप में अवश्य करता है । सभी युगों और सभी देशों का साहित्य इस तथ्य के प्रमाण स्वरूप देखा जा सकता है । अस्तु, अधिक क्या, रसराज की पदवी ही इसके महत्व को सूचित कर रही है ।

---

1. "It must be noted that the sentiment of love and hate comprise many of the same emotional dispositions."

- Macdougal, Social Psychology, P. 106.

श्रृंगार के भेद

श्रृंगार के दो भेद होते हैं - (क) संयोग और (ख) विप्रलंभ श्रृंगार इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

(क) संयोग -

विद्वानों ने संयोग श्रृंगार और संभोग श्रृंगार समानार्थी शब्द माना है ।[१] एक दो विद्वान संयोग और संभोग श्रृंगार में भेद भी करते हैं पर अधिकांश इसे एक अर्थ में ग्रहण करते हैं ।[२] संभोग श्रृंगार को परिभाषित करते हुए धनन्जय ने लिखा है - ``जहां अनुकूल विलासी एक दूसरे के दर्शन, स्पर्शन इत्यादि का सेवन करते है वह आनन्द से युक्त संभोग श्रृंगार कहलाता है ।[३] इसी संबंध में विश्वनाथ का कथन भी दृष्टव्य है - ``जहां एक दूसरे के प्रेम में अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन स्पर्शन इत्यादि का सेवन करते हैं वह संभोग श्रृंगार कहलाता है ।''[४]

संभोग श्रृंगार की निष्पत्ति के लिये नायक नायिका का एकत्र रहकर एक दूसरे के प्रति प्रदर्शन तथा तद्जन्य आनन्दोपभोग आवश्यक है । संयोग के समय प्रेमानुभूति अपेक्षित है । परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन, प्रभृति नायक-नायिका के पारस्परिक व्यवहार भेद से संयोग श्रृंगार के अगणित भेद हो सकते हैं । संयोग श्रृंगार के विभावों एवं अनुभावों के संबंध में भरत का यह कथन उद्धरणीय है - ``संयोग ऋतुरमणीयता, माल्य, अनुलेपन, अलंकार इष्टजनों का संसर्ग, इन्द्रियों के विषय, रम्यभवन, उपवनगमन, प्रिय के वचनों का श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीडा-लीला इत्यादि विभावों से उत्पन्न होता है, अथ च नयनचातुर्य, भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, ललित एवं मधुर अंगचेष्टा, आकर्षक वचन इत्यादि के अनुभावों से व्यंजित होता है ।' सूर्य चन्द्रमा, उदय अस्त,

---

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग १ पृ० ८६१
२. ,, वही ,, ,, ,,
३. दशरूपक - ४, ६६
४. साहित्य दर्पण - ३, २१०

जलविहार, प्रभात, मधुपान, रात्रि क्रीड़ा इत्यादि असंख्य वस्तुओं का वर्णन संयोग श्रृंगार में होता है। लीला, विलास, विच्छित्ति प्रभृति दस 'हाव' भी संयोग श्रृंगार में सन्निविष्ट होते हैं। त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरण को छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी भाव आते है। जहां नायिका के मन में नायक को देखकर प्रेम जागृत होता वहां नायिकारब्ध संयोग तथा जहां नायिका को देखकर नायक के मन में रतिभाव उद्भूत होता है वहां नायकारब्ध संयोग श्रृंगार माना जाता है।

संयोग श्रृंगार संभोग श्रृंगार का पर्याय है।[1] लेकिन कुछ विद्वानों की राय है कि जहां नायक नायिका की संयोगावस्था में परस्पर रति होती है, पर संभोग सुख प्राप्त नहीं होता वहां संयोग श्रृंगार मानना चाहिए, संभोग नहीं।[2]

रामदहिन मिश्र ने "काव्यदर्पण" में सुमित्रानन्दन पंत की निम्नलिखित पंक्तियां उदाहरण रूप में प्रस्तुत की है -

"एक पल मेरे प्रिया के दृग, पलक, थे उठे
ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से, दृढ़
किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।"

इनकी टिप्पणी यह है - "इसमें आलम्बन नायिका, नायिका का सौन्दर्य उद्दीपन, नायिका का निरीक्षण अनुभाव, लज्जा आदि संचारीभाव तथा रति स्थायी है। यहां संयोग सुख की प्राप्ति है। संभोग सुख की नहीं क्योंकि प्रिय को प्रिया की प्राप्ति नहीं हुई।" वस्तुतः दर्शन अवलोकन भी आचार्यों द्वारा संभोग श्रृंगार में गृहीत किया गया है। संभोग का स्थूल अर्थ ग्रहण कर ही उसे 'संयोग' से पृथक किया जा सकता है। 'संयोग' को अलग मानने का कोई प्रबल आधार नहीं है।[3]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश भाग १, पृ० ८६२
२. ,, वही ,, ,, ,,
३. ,, वही ,, ,, ,,

धनंजय का कथन है - ``जहाँ अनुकूल विलासी एक दूसरे के दर्शन, स्पर्शन इत्यादि का सेवन करते हैं वह आनन्द से युक्त संभोग श्रृंगार कहलाता है ।[१]

भानुदत्त कहते हैं - ``दर्शन, स्पर्शन, संलाप इत्यादि के अनुभूयमान सुख अथवा परस्पर संयोग से अर्थात् बहिरिन्द्रिय सम्बन्ध से उत्पद्यमान आनन्द संभोग है ।``[२]

विश्वनाथ का कथन है - ``जहाँ एक दूसरे के प्रेम में अनुरक्त नायक और नायिका दर्शन स्पर्शन इत्यादि सेवन करते हैं वह संभोग श्रृंगार कहलाता है ।``[३]

उपर्युक्त परिभाषाओं में `संभोग श्रृंगार` की निष्पत्ति के लिये नायक-नायिका का एकत्र रहकर एक दूसरे के प्रति प्रदर्शन तथा तज्जन्य आनन्दोपभोग आवश्यक बताया गया है । संयोग के समय प्रेमानुभूति अपेक्षित है । पंडितराज ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है । वे कहते हैं कि ``संयोग का अर्थ ``स्त्री-पुरुष का एक स्थान पर रहना`` नहीं है क्योंकि एक पलंग पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि हो तो वह विप्रलम्भ या वियोग रस ही माना जाएगा । उनके अनुसार `संयोग` इस मानसिक ज्ञान किंवा चित्तवृत्ति का पर्याय है कि ``मैं मिला हुआ हूँ`` और वियोग यह ज्ञान है कि ``मैं बिछुड़ा हुआ हूँ ।`` अतएव स्त्री-पुरुष के संयोग के समय में प्रेम रहे तो वह ` संयोग ` अथवा ` संभोग श्रृंगार ` कहलायेगा ।``
हिन्दी के चिन्तामणि की यह परिभाषा अत्यंत सटीक है -

जहाँ दम्पती प्रीतिसों विलसन रचत बिहार ।
चिन्तामनि कवि कहत यों तहं संयोग सिंगार ।

`संभोग` एवं `संयोग` शब्द प्रस्तुत प्रकरण में प्राय: समानार्थी है । लेकिन कुछ पण्डितों का कथन है कि संयोग की एक वह अवस्था भी है जिसमें नायक - नायिका भी परस्पर रति तो होती है पर संभोग सुख की प्राप्ति नहीं होती अतएव इसको संभोग में सम्मिलित करना उचित नहीं है ।

---

१. दशरूपक ४: ६८
२. र० त० ६
३. साहित्य दर्पण ३: २१०

परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, परिचुम्बन, प्रभृति नायक नायिकाओं के पारस्परिक व्यवहार भेद से संभोग शृंगार के अगणित भेद होते हैं लेकिन आचार्यों ने उनका अन्तर्भाव इसी एक 'संभोग शृंगार' में कर दिया है ।

हिन्दी आचार्यों में केशव और देव ने संयोग (संभोग) एवं वियोग (विप्रलम्भ) शृंगार में से प्रत्येक के दो दो भेद -''प्रच्छन्न'' एवं 'प्रकाश' किये हैं । लेकिन जैसा भगीरथ मिश्र ने बताया है, प्रच्छन्न शृंगार को रस की संज्ञा प्राप्त ही नहीं होनी चाहिए क्योंकि विभाव अनुभाव एवं संचारी भावों से परिपुष्ट होकर जब स्थायी भाव व्यक्त होता है तभी रसदशा प्राप्त होती है ।

किन्तु पूर्वानुराग मान प्रवास एवं करुण विप्रलम्भ के आनन्तर्य से संभोग-शृंगार के भी चार प्रकार भोजदेव ने ''सरस्वती कण्ठाभरण'' में निर्दिष्ट किये हैं तथा कारण यह कहा है कि विप्रलम्भ के बिना, संभोग पुष्ट नहीं होता । विश्वनाथ ने भी 'साहित्य-दर्पण' में भोज का मत उद्धृत किया है तथा पूर्वरागानन्तर एवं प्रवासानन्तर संभोग के उदाहरण भी दिये हैं । हिन्दी के आचार्य देव ने भी 'भवानीविलास' में इस प्रसंग को उठाया है और यह बताया है कि संयोग वियोग के बीच में आता है-

'' ते वियोग संयोग ते मान प्रवास सतोग ।
यह बिधि मध्य वियोग के होत सिंगार संयोग ।''

स्पष्ट है कि देव का यह क्रम और वर्गीकरण नवीन नहीं कहा जाएगा क्योंकि इस विवेचन के लिये वे भोज एवं विश्वनाथ, दोनों के ऋणी हैं । संभोग शृंगार का यह विभाजन मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है ।

भरत ने इसके विभावों एवं अनुभावों के संबंध में यह कहा है -
''संभोग ऋतुरमणीयता, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजनों का संसर्ग, इन्द्रियों के विषय, रम्यभवन, उपवनगमन, प्रिय के वचनों का श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीड़ा लीला इत्यादि विभावों से उत्पन्न होता है, अथ च नयनचातुर्य, भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष, ललित एवं मधुर अंग-चेष्टा,

आकर्षकवचन इत्यादि अनुभावों से व्यंजित होता है ।' सूर्य चन्द्रमा, उदय-अस्त, जल-विहार, प्रभात, मधपान, रात्रि-क्रीड़ा इत्यादि असंख्य वस्तुओं का वर्णन संभोग में ही सकता है । विश्वनाथ का मत के प्रमाण पर यह कहना है कि जो कुछ शुचि एवं मध्य पदार्थ दिखाई पड़ता हैं, वह सभी इसमें ग्राह्य है । लीला, विलास, विच्छित्ति प्रभृति दस 'हाव' भी संभोग वर्णन में सन्निविष्ट हैं । त्रास, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरण को छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी आ सकते हैं । जहाँ नायिका के मन में नायक को देखकर प्रेम जागृत होता है, वहाँ नायिकारब्ध संभोग तथा जहाँ नायिका को देखकर नायक के मन में रतिभाव उद्भूत होता है, वहाँ नायकारब्ध संभोग श्रृंगार माना जाता है ।

ख. विप्रलम्भ श्रृंगार

भोजराज ने विप्रलम्भ श्रृंगार की यह परिभाषा दी है - ``जहां रति नामक भाव प्रकर्ष को प्राप्त करे, लेकिन अभीष्ट को न पा सके, वहां विप्रलम्भ श्रृंगार कहा जाता है।``[१]

भानुदत्त का कथन है - ``युवा और युवती भी परस्पर मुदित पंचेन्द्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव अथवा अभीष्ट की अप्राप्ति विप्रलम्भ है।``[२]

साहित्य दर्पण में भोजराज की परिभाषा ही दुहरायी गयी-
``यत्र तु रति: प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।``
(३, १८७)

इन कथनों में अभीष्ट का अभिप्राय नायक या नायिका से है। उक्त आचार्यों ने अभीष्ट की अप्राप्ति ही विप्रलम्भ की निष्पत्ति के लिये आवश्यक मानी है। लेकिन पंडितराज ने प्रेम की वर्तमानता को प्रधानता दी है। उनके अनुसार यदि नायक नायिका में वियोग दशा में प्रेम हो तो, वहां विप्रलम्भ श्रृंगार होता है। उनका कथन है कि वियोग का अर्थ है यह ज्ञान कि ``मैं बिछुड़ा हुं`` अर्थात् इस तर्कणा से वियोग में भी मानसिक संयोग सम्पन्न होने पर विप्रलम्भ नहीं माना जाएगा। स्वप्न-समागम होने पर वियोग में भी संयोग माना जाता है।

हिन्दी के आचार्यों में केशव तथा सोमनाथ ने ``रसगंगाधर`` की परिभाषा अपनायी है तथा चिन्तामणि और भीखारीदास ``साहित्यदर्पण`` से प्रभावित हैं।

---

१. स० कं०, ५, ४५।

२. र० त० ६ ।

केशव - ``बिछुरत प्रीतम की प्रीतिमा, होत जु रस तिहिं ठौर ।
विप्रलम्भ तासों कहैं केशव कबि सिरमौर ।``

चिन्तामणि - ``जहां मिलै नहिं नारी अरु पुरुष
सु बरन बियोग ।``

सोमनाथ - ``प्रीतम के बिछुरनि विषै जो रस उपजन आई ।
बिप्रलम्भ सिंगार सो कहत सकल कविराई ।``

भिखारीदास -``जहाँ दम्पत्ति के मिलन बिन, होत बिमा बिस्तार ।
उपजत अन्तर माव बहु, सो वियोग श्रृंगार ।``

विप्रलम्भ के कई प्रकार से भेद किये गये है । भोज ने "सरस्वती-कण्ठाभरण" में पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुणा ये चार भेद कहे हैं । परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ ने इन्हीं भेदों का कथन किया है । लेकिन मम्मट ने विप्रलम्भ के पांच प्रकार बताये हैं - अभिलाषहेतुक, विरहहेतुक, ईर्ष्याहेतुक, प्रवासहेतुक तथा शापहेतुक । भानुदत्त और पण्डितराज ने मम्मट के भेदों को ही स्वीकार किया है । हिन्दी के आचार्यों में केशव, देव, भिखारी इत्यादि ने ``साहित्यदर्पण`` का ही अनुसरण किया है । नवीन विद्वानों में कन्हैयालाल पोद्दार ``काव्यप्रकाश`` का तथा रामदहिन मिश्र ने ``साहित्यदर्पण `` का वर्गीकरण स्वीकार किया है । हरिऔध-पूर्वानुराग, मान और प्रवास तीन ही भेद स्वीकार करते हैं । मतिराम ने भी `रसराज` में ये ही तीन भेद माने है । धनन्जय ने श्रृंगार के तीन भेद बताये हैं - आयोग, विप्रयोग तथा संभोग । इनमें आयोग और विप्रयोग विप्रलम्भ के अन्तर्गत आते हैं । आयोग का अर्थ है नहीं मिल पाना और विप्रयोग का अर्थ है मिलकर अलग हो जाना । लक्षण के अनुसार आयोग पूर्वानुराग के समकक्ष हैं । कभी कभी विप्रयोग और विप्रलम्भ पर्याय जैसे भी समझे जाते हैं ।

मिलन अथवा समागम से पूर्व हृदय में जो अनुराग का आविर्भाव होता है, उसे `पूर्वानुराग` या `पूर्वराग` कहा जाता है । इसके चार मार्ग या विधियां है- प्रत्यक्षदर्शन, चित्रदर्शन, श्रवणदर्शन एवं स्वप्नदर्शन । इनमें प्रियमूर्ति के भिन्न भिन्न प्रकार से दर्शन होने का विधान है । पूर्वानुराग को नियोग भी कहते हैं । कविराज विश्वनाथ के अनुसार पूर्वानुराग तीन प्रकार

का होता है - ``नीलीराग`` जो बाहरी चमक दमक तो अधिक न दिखाये, किन्तु हृदय से कभी दूर न हो, ``कुसुम्मराग`` जो शोभित अधिक हो, लेकिन जाता रहे, और ``मंजिष्ठाराग``, जो शोभित भी हो और साथ ही कभी नष्ट भी न हो ।

प्रियापराधजनित कोप को `मान` कहते हैं । इसके भी दो भेद होते हैं - प्रणयमान और ईर्ष्यामान । दोनों के हृदय में भरपूर प्रेम होने पर भी जब प्रिय प्रिया एक दूसरे से कुपित हो, तब प्रणयमान होता है । इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि प्रेम की गति कुटिल होती है । पति की अन्य नारी में आसक्ति देखने, अनुमान करने या किसी से सुन लेने पर स्त्रियों द्वारा किया गया मान ``ईर्ष्यामान`` कहलाता है । निवृत्ति के अनुसार ईर्ष्यामान के भी तीन भेद कहे गये हैं - लघुमान, मध्यम-मान और गुरु-मान ।

नायक-नायिकाओं में से एक का परदेश में होना `प्रवास` कहलाता है । यह प्रवास कार्यवश, शापवश, अथवा भयवश, तीनों कारणों से होता है । प्रवास-वियोग में नायिका के शरीर और वस्त्र में मलिनता, सिर में साधारण वेणी एवं निश्वास उच्छ्वास, रोदन भूमिपातन इत्यादि होते हैं । `शापज` वियोग का प्रसिद्ध उदाहरण कालिदास का मेघदूत है - नायक-नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दु:खी होता है, उसे करुण विप्रलम्भ कहते हैं। लेकिन विप्रलम्भ तभी माना जायेगा, जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से पुन: मिलने की आशा बनी रहे । यदि प्रिय मिलन की आशा सर्वथा नष्ट हो जाय, तो वहां स्थायी भाव शोक होने से करुण रस होगा, करुण विप्रलम्भ श्रृंगार नहीं ।`सूरसागर` में कृष्ण के ब्रज से चले जाने के अनन्तर गोपियों की वियोगानुभूति करुण विप्रलम्भ ही हैं ।

मम्मट के पंचविध विप्रलम्भ और विश्वनाथ के चतुर्विध विप्रलम्भ में कोई मौलिक भेद नहीं है । मम्मट का `अभिलाषाहेतुक` वियोग ``साहित्य-दर्पण`` का पूर्वानुराग ही है यद्यपि काव्यानुरागियों में ``पूर्वराग`` या ``पूर्वानुराग`` शब्द अधिक लोकप्रिय है ।`ईर्ष्याहेतुक` का सम्बन्ध `मान` से

है । प्रवास एवं शाप दोनों वर्गीकरणों में समान है । करुण विप्रलम्भ प्रवासहेतुक वियोग के भीतर सन्निविष्ट किया जा सकता है । मम्मट का 'विरहहेतुक' विप्रलम्भ अवश्य एक सुन्दर सूझ है । समीप रहने पर भी गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम न हो तो वह विरहहेतुक वियोग माना जाएगा ।

वियोग से संबंधित दस काम-दशायें भी मानी गई हैं - अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण । कितने ही लोग नौ कामदशाएं ही मानते हैं, मरण को नहीं । कितने मूर्छा को भी मिलाकर एकादश कामदशाएं स्वीकार करते हैं । चिन्ता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण संचारियों में भी वैसे ही गृहीत हैं । रस का विच्छेदक होने से मरण का वर्णन प्राय: निषिद्ध ठहराया जाता है, लेकिन विश्वनाथ कहते हैं कि ''मरण-तुल्य दशा तथा चित्त से आकांक्षित मरण का वर्णन ग्राह्य है और शीघ्र पुनर्जीवित होने की आशा हो, तो भी मरण का उल्लेख मान्य है ।''[1] देव की सलाह अत्यंत महत्वपूर्ण है - ''मरनौ वा विधि बरनिये जाते रस न नसाई ।'' भारतेन्दुजी की निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं -''रहो प्रान प्यारे बिन दरस तिहारे भये, मुये हूँ पै आंखें ए खुली ही रह जायंगी ।'' 'मरण' के गृहीत हो जाने से सम्पूर्ण व्यभिचारी भाव विप्रलम्भ या वियोग श्रृंगार में चले आते हैं ।

---

१. हि० सा० कोश - भाग १, पृ० ८६६

श्रृंगार के आलम्बन

नायक-नायिका

श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव के रूप में नायक-नायिका का विवेचन और वर्गीकरण किया गया है ।

नायक -

श्रृंगार रस के प्रसंग में इसे - ''तरुन सुघर सुन्दर सकल काम कलानि प्रवीन । नायक सो मतिराम कहि कबित गीत रसलीन ।''[१] कहा गया है अर्थात् यौवनपूर्ण सुन्दर, स्वस्थ, और सब-काम कलाओं से परिपूर्ण तथा कविता राग रसज्ञ नायक कवि मतिराम ने बताया है जिसे अधिकांश मान्य करते हैं । नायक के निम्नलिखित भेद सामन्यतया किये गये हैं ।

पति -

सर्वप्रथम इसका उल्लेख भानुदत्त ने किया, जिसे हिन्दी में प्राय: सभी ने स्वीकृत किया ।[२] भानुदत्त के अनुसार - ''विधिवत्पाणिग्राहक:'' अर्थात जिसका विधिवत् पाणिग्रहण हुआ हो, उसे पति कहते हैं ।''[३]

अनुकूल पति -

यह शब्द सर्वप्रथम अग्निपुराण में ''सार्वकालिकपरांगनापराङ्-मुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्त:अनुकूल: ।'' अर्थात् जो नायक सदा-सर्वदा दूसरी स्त्रियों से विमुख होकर अपनी प्रिया से अनुरक्त रहता है वह अनुकूल पति कहा जाता है ।

मतिराम की परिभाषा में भी यह भाव है -''सदा आपनी नारि सों राखे अति ही प्रीति । परनारी तै विमुख जो -------- ।''[४]

---

१. रसराज - २३७ ।
२. रस मंजरी, पृ० १६५ ।
३. मतिराम रसराज - पृ० २४४ ।
४. रस मंजरी, पृ० १६६ ।

रहीम के अनुसार -``करत न हियं अपराधवा सपनेहु पीय ।
मान करन की बिरियां रहिगो हीय ।``[१]

दक्षिण–नायक -

इसका सर्वप्रथम उल्लेख अग्निपुराण में किया गया है । भानुदत्त के अनुसार - ``सकलनायिका विषय का विषय- समसहजानुरागो दक्षिण:`` अर्थात् जो नायक सभी नायिकाओं के विषय में समान अनुराग का व्यवहार करता हैं वह दक्षिण नायक कहलाता है ।
मतिराम ने भी ऐसा ही कहा है - ``एक भांति सब तियन सों जाको होय सनेह``।[२] देव के अनुसार -``न्यारो ह्वै सब सों मिलै`` कहकर अधिक स्पष्ट किया है । नायक कृष्ण सब गोपियों के मान की रक्षा करते हैं -
``आपनि आपनि पौरि बताय कै बोल कह्यो सिगरोनि नवेलो ।
त्यों हंसिकै ब्रजराज कह्यो अब आज हमारिहि पौरि मैं खेलो ।``[३]

शठनायक -

इसका उल्लेख सर्वप्रथम अग्निपुराण में हुआ । भानुदत्त के अनुसार - ``कामिनीविषयक कपटपटु:`` अर्थात् जो स्त्रियों के विषय में कपट व्यवहार करने में चतुर हों, उसे शठनायक कहते हैं । `रसार्णव` में इसे ``गूढापराधकृत्`` माना गया है ।
मतिराम की परिभाषा में उक्त दोनों ही बातें आ जाती हैं -
``डरै करत अपराध नहिं करै कपट की प्रीति ।``[४]
पद्माकर ने इसकी व्याख्या अधिक विस्तार से करते हुये कहा है -
``सहित काज मधुरै मधुर बैननि कहै बनाइ ।``[५]

---

१. बरवै - ७५ ।
२. रसराज - २४७ ।
३. रसराज - २४८ ।
४. रसराज - २५० ।
५. भा० वि० ना०

रहीम के अनुसार - ``छूटल लाज डगरिया औ कुल कानि ।
करत जात अपरधवा परिगइ बानि ।``[१]

पद्माकर का शठनायक चतुराई से क्षमा मांगता हुआ बताया है -

`` हौं न कियो अपराध बलि बृथा तानियतु मौंह ।
तुव डर खिज हरि परसि कै करत रावरी सौंह ।``[२]

<u>धृष्ट-नायक -</u>

इसका भी सर्वप्रथम उल्लेख अग्निपुराण में हुआ है । भानुदत्त के अनुसार - ``भूमो निश्शंककृतदोषोऽपि भूमो निवारित:अपि भूय: प्रश्रय-परायणो धृष्ट:`` अर्थात् जो बार बार दोष करने पर भी निश्शंक रहे तथा मना करने पर भी अनुनय करने में चतुर हो, ऐसा नायक धृष्ट है ।[३] मतिराम ने भी लगभग ऐसा ही लक्षण दिया है -

`` करै दोष निश्शंक जो डरै न तिय के मान । लाज धरै मन में नहीं
नायक धृष्ट निदान ।``[४]

देव ऐसे नायक का उदाहरण देते हुये कहते हैं -

`` हार ते दूरि करौ बहु बारनि हारनि बांधि मृणालनिमारी ।
क्राहृतु ना अपनो अपराधु असाधु सुभाइ अगाधु निहारी ।``[५]

रहीम के अनुसार नायिका के व्यंग्य में इस नायक का चरित्र स्पष्ट उभरा है -

`` जहवां जात रइनियां तहवां जाहु ।
जोरि नयन निरलजवा कत मुसुकाहु ।``[६]

---

१. बरवै - ७७ ।
२. जगद्वि०, १: २६७ ।
३. रसमंजरी, पृष्ठ १७१ ।
४. रसराज, २६३ ।
५. भा० वि०, ना० ।
६. बरवै, ७८ ।

उपपति -

सर्वप्रथम मानुदत्त द्वारा स्वीकृत विभाजन का एक भेद - आचारहानिहेतु: अर्थात् आचार हीनता के कारण पति को उपपति कहा गया है ।[१] इसी बात को मतिराम ' जो परनारि को रसिक' कहकर व्यक्त करते । यह नायक अनेक स्त्रियों से प्रेम करता है -

``मन्द हंसनि दृगकोर लखि बस कर लेत प्रबीन ।
छिन बिछुरे गति होति यों ज्यों जल बिछुरत मीन ।``[२]

वैशिक -

मानुदत्त के अनुसार इसको - ``बहुलवैश्यपिमोगरसिक:`` अर्थात् जो अनेक वैश्याओं का उपमोग करने वाला हो, ऐसा नायक माना जाता है ।

मतिराम ने भी `` प्रीति करै गनिकानसों`` कहा है तथा पद्माकर ने इसे ' अलज अमीत ' भी माना है । मतिराम ऐसे नायक का वर्णन करते हैं -

`` बारबार भ्रमि बारबधू बार मौरन में,
मांग की मुकतमाल गंग में मगन मों ।``[३]

मानी -

मानुदत्त इसे शठ के अन्तर्गत मानते हैं । परन्तु हिन्दी में प्राय: स्वतन्त्र नायक का एक भेद माना है । मतिराम ने 'करत मन अभिमान' कहा है, और इसे पद्माकर ने ' करै जु तिय पे मान' कहा है । रहीम इसका वर्णन नायिका की उक्ति के रूप में करते हैं -

`` अब भरि जनम सहेलिया तकब न ओहि ।
ऐठलिगो अभिमनियां तजिगो मोहि ।``[४]

---

१. रसमंजरी, पृष्ठ १७१ ।
२. रसराज, पृष्ठ २५६ ।
३. रसराज, पृष्ठ २६० ।
४. बरवै, ७६ ।

सखी नायक को मना कर रही है -

`` ऐसें मनभावन गुमान हैं जु मन भायो,

प्यारी के मनाइबे कों तुमको मनाइये ।``[१]

<u>वचन चतुर</u> -

मानुदत्त ने इसे शठ के अन्तर्गत ही माना है, परन्तु हिन्दी के अन्तर्गत प्राय: सामान्य भेद के रूप में मान्य है । मतिराम, पद्माकर आदि ने इसे वचनों में चतुराई करने वाला माना है । रहीम के अनुसार -

`` सघन कुंज अमरैया सीतल छांह ।

फगरित जाय कोइलिया पुनि उड़ि जाई ।``[२]

अर्थात् नायिका को नायक किस चतुराई से संकेत देता है ।

<u>क्रिया चतुर</u> -

भानुदत्त ने इसे वचन चतुर के साथ रखा है -

``वचनचेष्टाव्यंग्यसमागमश्चतुर: ।``[३] हिन्दी के आचार्यों ने क्रिया की चतुराई से संकेत करने वाला कहा है । रहीम के कृष्ण नायक किस चतुराई से नायिका का सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं -

`` खेलत जानिसि टोलवा, नन्दकिसोर

छुइ वृषभान कुंअरिया होइ गई चोर ।``[४]

<u>प्रोषित</u> -

पति आदि के विभेदों में यह नायक हो सकता है, ऐसा भानुदत्त का मत है । हिन्दी में प्राय: इसे स्वतन्त्र रूप में माना है । मतिराम के अनुसार- `नायक होय बिदेस मैं जो वियोग अकुलाय` उसे प्रोषित कहते हैं । नायिका की सुधि में नायक सन्तोष प्राप्त करता है -

`` ह्वै है तब निसा मेरे लोचन चकोर निकों,

जब वाको आनन अमल इन्दु देखिहौं ।``[५]

---

१. मतिराम रसराज, २६४ ।
२. बरवै, पृ० ८० ।
३. र०मं०, पृ० १७८ ।
४. बरवै, पृ० ८१ ।
५. रसराज, पृ० २७३

नायिका -

सामान्य अर्थ में नायक की पत्नी या प्रिया । वह सुन्दरी तथा यौवनपूर्ण स्त्री, जिसके देखने से रति स्थायी भाव जागरित हो, जिसका विस्तार ही श्रृंगार रस होता है, अर्थात् श्रृंगार रस का आलम्बन । यह काव्यशास्त्र में बताया है ।

भेद -

सर्वप्रथम तथा सर्वमान्य नायिकाओं का विभाजन स्वकीया, परकीया तथा सामान्या में किया गया है, जो नायक के साथ उसके सामाजिक सम्बन्ध पर आधारित है । संस्कृत साहित्य में इसके कई अन्य रूप भी पाये जाते हैं, भरत ने कुलजा, वेश्या तथा कन्यका माना है और 'अग्निपुराण' में उपर्युक्त विभाजन में पुनर्भू को जोड़ा गया है । वाग्भट तथा केशव मिश्र ने अनूढ़ा, स्वकीया, परकीया तथा पणांगना माना है । 'नाट्यदर्पण' में कुलजा, दिव्या, दात्रिया तथा पण्यकामिनी कहा गया है तथा रूपगोस्वामी ने केवल स्वकीया और परकीया को माना है । संस्कृत में विद्यानाथ के अतिरिक्त तथा हिन्दी में सभी ने इस विभाजन को स्वीकार किया है । कुमारमणि ने स्वकीया और पतिव्रता में अन्तर माना है, क्योंकि पतिव्रता पति पर क्रोध नहीं कर सकती, अतएव उसके खण्डिता जैसे भेद नहीं किये जा सकते । परकीया की परिभाषा केवल केशव ने भिन्न प्रकार से की है । उनके अनुसार परकीया परब्रह्म की प्रेमिका होती है । यद्यपि बाद के अधिकांश कवियों ने कृष्ण को नायक माना है पर उन्होंने परकीया की यह परिभाषा नहीं दी । हिन्दी में कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा भानु के अतिरिक्त अन्य सभी ने सामान्या अथवा गणिका का बहुत संक्षेप में उल्लेख किया है ।[१]

संस्कृत में स्वकीया के भेद रुद्रट के अनुसार मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा (प्रौढ़ा) है, जिनका आधार प्राय: अवस्था (वय-क्रमानुसार) है । इस मत को बाद में आचार्यों ने स्वीकार किया है ।[२] भोज तथा रूपगोस्वामी जैसे

---

१. डॉ० राकेश गुप्त नायक नायिका भेद - पृ० ६४
२. ,, ,, वही ,, ,, पृ० ६७

कुछ आचार्यों ने इस विभाजन को परकीया के साथ भी लाया है । प्रथम हिन्दी आचार्य कृपाराम ने इस विभाजन को स्वकीया के साथ सामान्या के लिये भी लाया है । नन्ददास, दास तथा ब्रह्मदत्त ने इसको तीन रूपों के साथ लाया हैं और गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने इसको स्वतन्त्र विभाजन के रूप में स्वीकार करके एक प्रकार से इसी मत को माना है । कुमारमणि ने भी परकीया में मध्या और प्रौढ़ा के भेद माने हैं । परन्तु अधिकांश आचार्यों ने इस विभाजन को प्रमुखत: स्वकीया में ही स्वीकार किया हैं और इनमें प्रमुख हैं - केशव, रहीम, चिन्तामणि, मतिराम, देव, पद्माकर और हरिऔध ।

सर्वप्रथम भानुदत्त ने मुग्धा का विभाजन रसमंजरी में किया है ।[१] एक दृष्टि से उन्होंने अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना और दूसरी दृष्टि से नवोढ़ा तथा विश्रब्धनवोढा माना है । संस्कृत में रूपगोस्वामी तथा विश्वनाथ ने मुग्धा के भेद करके भी भानुदत्त का विभाजन स्वीकार नहीं किया है, पर हिन्दी में अधिकांश ने उनका अनुसरण किया है और जो कुछ आचार्य इस मत के नहीं हैं, उन्होंने विश्वनाथ तथा रूपगोस्वामी को भी नहीं माना है । मुग्धा के भेद करने वालों में जबकि संस्कृत में केवल तीन आचार्य हैं, हिन्दी में भी दो तीन ही होंगे, जिन्होंने इसका विभाजन नहीं किया है । इस विभाजन को हिन्दी में तीन प्रकार से किया गया है - प्रथम- एक ही विभाजन के अन्तर्गत उपभेदों के रूप में । कृपाराम, तोष, दौलतराम और कन्हैयालाल पोद्दार ने यह विभाजन अपनाया है । कृपाराम ने नवोढ़ा के तीन भेद और माने हैं, ललिता, वय:सन्धि तथा उदितयौवना । तोष और ब्रह्मदत्त ने मुग्धा के विभाजन में विश्रब्धनवोढ़ा को स्वीकार नहीं किया है । दौलतराम ने आकृतयौवना या अंकुरितयौवना को रस-सूची में जोड़ा है । देव ने अपने नव-मुग्धा, नववधू, नवयौवना, नवअंगना तथा सलज्जा-रति के विभाजन के साथ इसको भी स्वीकार किया है और भानुदत्त के भेदों में केवल वय: सन्धि को और जोड़ा है । द्वितीय - स्वतन्त्र विभाजन को भानुदत्त के अनुकरण पर

---

१. डॉ० राकेश गुप्त नायक नायिका भेद - पृ० ६८ - ६६

स्वीकार करने वाले आचार्यों में नन्ददास, मतिराम, दास, पद्माकर तथा गुलाबराय हैं। इनमें किसी ने भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि इन दोनों विभाजनों में से कोई किसी दूसरे के अन्तर्गत विभाजित हो सकता है। तृतीय - इस वर्ग के लेखकों ने दोनों विभाजनों को एक-दूसरे से सम्बद्ध किया है - बेनी, प्रवीन, प्रताप, भानु, 'हरिऔध' तथा मीतल। इन्होंने मुग्धा को अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना में विभाजित किया है, फिर ज्ञातयौवना को नवोढ़ा तथा विश्रब्धनवोढ़ा में।[१]

कुछ कवियों ने अपने स्वतन्त्र विभाजन प्रस्तुत किये हैं, जो पूर्ण रूप से किसी के द्वारा ग्रहण नहीं किये गये। केशव ने इसके चार भेद नवलवधू, नव्ययौवना, नवलअनंगा तथा लज्जाप्राया किये हैं।[२] चिन्तामणि के अनुसार छः भेद - वयःसन्धि, अविदितयौवना, अविदितकामा, विदितमनोभवा, यौवना, नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा माने हैं। कुमारमणि ने नवमदना, नव्ययौवना, लज्जावती, भूषणरुचि, रतिवामा, वयःसन्धि तथा विश्रब्धनवोढ़ा में विभाजित किया है। देव के स्वतन्त्र विभाजन का उल्लेख किया जा चुका है। रसलीन ने अपने विभाजन में पिछले सभी भेद-उपभेदों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार पांच भेद इस प्रकार हैं - अंकुरितयौवना, शैशवयौवना, नव्ययौवना, नवलअनंगा, नवलवधू, पुनः नव्ययौवना के अज्ञात तथा ज्ञातयौवना नामक दो भेद, नवलअनंगा के अविदितकामा तथा विदितकामा नामक दो भेद और नवलवधू के नवोढ़ा, विश्रब्धनवोढ़ा तथा लज्जासक्ता-रतिकोविदा नामक तीन भेद किये हैं। बिहारीलाल भट्ट ने अलग ढंग अपनाया है। उन्होंने पहले केशव का वर्गीकरण दिया है, फिर नवलवधू के अज्ञात तथा ज्ञातयौवना नामक भेद किये हैं और अन्त में नवोढ़ा तथा विश्रब्धनवोढ़ा को स्वतन्त्र रूप में रखा है।

रुद्रट ने मध्या और प्रगल्भा का विभाजन धीरा, मध्या और अधीरा में, फिर ज्येष्ठा और कनिष्ठा में किया है।[३] भानुदत्त ने इनके विभाजन नहीं किये और हिन्दी के अधिकांश कवियों ने इसका अनुसरण करके

---

१. डॉ० राकेश गुप्त - नायक नायिका भेद पृ० १००
२. ,, वही ,, ,, ,, ,, पृ० १०१
३. ,, वही ,, ,, ,, ,, पृ० १०४

मध्या का विभाजन नहीं किया है । परन्तु कृपाराम, तोष, केशव, चिन्तामणि, कुमारमणि, देव, रसलीन तथा नन्दराम आदि ने विभाजन किया हैं । कृपाराम ने अतिविश्रब्धनवोढ़ा का उल्लेख मध्या के साथ किया है । तोष ने इसके साथ प्रगल्भवचना को और एक भेद माना है । अन्यों ने विश्वनाथ के मध्या के भेदों को स्वीकार किया है- विचित्रसुरता, प्ररूढ़स्मरा, प्ररूढ़यौवना, ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमव्रीडिता । केशवदास ने इसके चार भेद किये हैं, वे विश्वनाथ के आधार पर ही हैं, केवल शब्दों में कुछ अन्तर है जैसे दूसरे के लिये प्रानुभूत मनोभवा, तीसरे में प्ररूढ़ के स्थान पर आरूढ़ और चौथे में ईषत् अधिक है । पांचवां भेद केशव में नहीं है, पर कुमारमणि तथा रसलीन का पांचवां भेद लघुलज्जा इससे मिल जाता हैं । चिन्तामणि, देव, नन्ददास ने प्राय: केशव के वर्गीकरण को क्रम तथा नामके किंचित् हेर-फेर के बाद स्वीकार कर लिया है । प्रगल्भा का विभाजन नन्ददास, रहीम, रसलीन, पद्माकर, वेनीप्रबीन, चन्द्रशेखर, प्रतापनारायणसिंह, भानु तथा 'हरिऔध' ने इसके रतिप्रिया और आनन्दसम्मोहिता दो भेद किये हैं । स्वतन्त्र विभाजन करने वालों में केशव प्रमुख हैं, जिन्होंने प्रौढ़ा को समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रमित तथा लुब्धापति भेद माने है । चिन्तामणि ने प्रौढ़यौवना, मदनमदा, रतिप्रीतिमती और सुरतिमोदपरवशा भेद किये हैं । इसमें अंतिम दोनों कृपाराम आदि के भेद के समान हैं । कुमारमणि के पांच भेदों में से सकलतारुण्या, विविधभावा तथा लघुलज्जा विश्वनाथ के गाढतारुण्या, भावोन्नता और दरव्रीडा के समान तथा अक्रामा और रतिमोहिनी, केशव की रतिप्रिया और विचित्रविभ्रमा से भिन्न नहीं है । देव ने आक्रमित के स्थान पर आक्रान्त देकर केशव के विभाजन को ही प्रस्तुत कर दिया है । रसलीन ने प्रौढ़ा को उद्भटयौवना, मदनमद्रा, लुब्धापति और रतिकोविदा में तथा नन्दराम ने समस्तरसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रामितप्रौढ़ा और लज्जाप्रायारति में विभाजित किया है । ये सभी भेद परिचित हैं, केवल रसलीन का प्रथम विश्वनाथ के गाढतारुण्या का तथा नन्दराम का अन्तिम उनके दरव्रीडा का ही रूपान्तर है ।[१]

---

१. डॉ० राकेश गुप्त - नायक नायिका भेद पृ० १०७-१०८

संस्कृत में भोज को छोड़कर रुद्रट से लेकर रूपगोस्वामी तक सबने नायिका में अपने अपराधी पति के प्रति व्यवहार के आधार पर किये गये विभाजन धीरा, मध्या या धीराधीरा और अधीरा को केवल मध्या तथा प्रगल्भा के साथ स्वीकार किया है । अधिकांश हिन्दी कवि भी इसी मत के हैं, फिर भी कुछ अपवाद है । कृपाराम ने इसे स्वतन्त्र रूप से मानवती का विभाजन माना है और मध्या तथा प्रौढ़ा के साथ परकीया और सामान्या को भी स्वीकार किया है । जसवन्तसिंह ने भोज के अनुसरण में इसे स्वतन्त्र विभाजन माना है । कुमारमणि, दास तथा ब्रह्मदत्त ने इसे खण्डिता का विभाजन मानकर एक प्रकार से स्वतन्त्र ही माना है । अन्य अधिकांश ने प्रौढ़ाधीरा के अन्तर्गत आकृतिगुप्ता का विभेद भी स्वीकार किया है । रसलीन ने इसे मध्याधीराधीरा से सम्बद्ध किया है और खण्डिता से इनको (धीरादिक को) भिन्न माना है । रुद्रट तथा संस्कृत के बाद के आचार्यों ने ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा को भी मध्या और प्रौढ़ा का विभाजन स्वीकार किया है, पर हिन्दी के कवियों में केवल मतिराम, देव, रसलीन तथा पोद्दार आदि कुछ ने ऐसा स्वीकार किया है । अधिकांश ने इसे स्वकीयामात्र का विभाजन माना है । कृपाराम ने इनके साथ समाहिता का एक भेद और स्वीकार किया है । नन्ददास, रहीम, केशव जैसे कुछ कवियों ने इसका उल्लेख तक नहीं किया है ।

स्वकीया के अन्य भेदों में, देव ने वय के आधार पर - देवी (७ वर्ष) देवगन्धर्वी (७ से १४ वर्ष), गन्धर्वी (१४ से २१ वर्ष), गन्धर्वमानुषी (२१ से २८ वर्ष), मानुषी (२८ से ३५ वर्ष) का विभाजन दिया है । केवल रसलीन ने इस प्रकार का विभाजन किया है - गौरी (१० वर्ष तक), लक्ष्मी (सवा १२ से साढ़े २४ वर्ष) और सरस्वती (३५ वर्ष तक) । एक दूसरे प्रकार का स्वकीया का विभाजन रसलीन तथा दौलतराम ने दुःखिता के अन्तर्गत किया है - युवापतिदुःखिता, बालपतिदुःखिता, वृद्धपतिदुःखिता । दौलतराम ने चौथा भेद नपुंसकपतिदुःखिता और जोड़ा है । अनभिज्ञ नायक के समान इन नायिकाओं को भी रस का आलम्बन नहीं माना जा सकता है । क्योंकि यहाँ रति का अभाव है । दास ने ऊढ़ा, अनूढ़ा के भेद को स्वकीया के साथ ही माना है, पर अन्यों द्वारा स्वकीया सदा विवाहिता स्वीकार कर ली गयी है ।[1]

---

१. डा० राकेश गुप्त - नायक नायिका भेद पृ० ११२

संस्कृत में परकीया का जिसने भी विभाजन किया है, उसने इसके ऊढ़ा और अनूढ़ा भेदों को भी माना है।[1] परन्तु हिन्दी में नन्ददास, सुन्दर, जसवन्तसिंह तथा ब्रह्मदत्त जैसे कुछ कवियों ने परकीया का विभाजन करके भी इस विभेद को स्वीकार नहीं किया। कृपाराम ने परोढ़ा को पुन: परप्रिया और परविवाहिता में विभाजित किया है। अन्य कवियों ने परोढ़ा (ऊढ़ा) को मात्र परविवाहिता माना है। तोष ने परकीया के दो विभाजन प्रस्तुत किये हैं, एक के अनुसार दृष्टज्येष्ठा, असाध्या तथा साध्या और दूसरे के अनुसार - उद्बुद्धा तथा उद्बोधिता। असाध्या को पांच प्रकार से विभाजित किया है - गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अतिकान्ता तथा खलधिष्ठिता और साध्या को चार प्रकार से - वृद्धबधू, बालकबधू, रोगीबधू, तथा ग्रामबधू। रसलीन ने इनमें से प्रथम विभाजन से दृष्टज्येष्ठा को छोड़ दिया है, असाध्या को उसके समस्त भेदों सहित लिया है और सुखसाध्या (साध्या) में से ग्रामबधू को छोड़कर उसके ये भेद और जोड़ दिये हैं - नपुंसकबधू, विधवाबधू, गुर्विबधू, गुनरिझावती, सेवकवधू तथा निरंकुसा। रसलीन का दूसरा विभाजन भी समान है केवल नाम में किंचित् अन्तर है - उद्भूता तथा उद्बोधिता और उन्होंने उद्भूता के साथ स्वयंदूती को संयुक्त किया है। बाद में कुछ कवियों ने तोष का दूसरा विभाजन स्वीकार किया है। उदाहरण - प्रतापनारायणसिंह और 'हरिऔध' आदि ने। दास ने कुछ नवीनता जोड़ने का प्रयत्न किया है, उद्भूता की दो स्थितियां अनुरागिनी तथा प्रेमासक्ता तथा उद्बोधिता की आसाध्या और दु:खसाध्या और मानी है।

भानुदत्त ने परोढ़ा को गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयना तथा मुदिता में विभाजित किया है[2] - पुन: गुप्ता विभाजन वृत्तसुरतगोपना, वर्तिष्यमाण सुरतगोपना तथा वृत्तवर्तिष्यमाण सुरतगोपना में किया है, विदग्धा का वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धा में तथा अनुशयना का प्रथम, द्वितीय और तृतीय में किया है। बहुत कम शाब्दिक परिवर्तनों के साथ यह विभाजन अधिकांश हिन्दी के लेखकों द्वारा स्वीकार किया गया है। उदा० - रहीम, सुन्दर, पद्माकर, चन्द्रशेखर, नन्दराम, प्रतापनारायणसिंह, 'हरिऔध', भीतल आदि। जसवंतसिंह, चिन्तामणि, मतिराम और देव ने

---

१. डॉ० राकेश गुप्त-नायक नायिका भेद पृ० ११४ - ११९

गुप्ता के भेदों को छोड़कर इसे पूर्णत: स्वीकार किया है । तोष, बेनी, प्रबीन तथा गुलाबराय ने लक्षिता के दो उपभेद और जोड़े हैं, हेतुलक्षिता और सुरतिलक्षिता । कृपाराम, नन्दराम, कुमारमणि, रसलीन, भानु तथा ब्रह्मदत्त ने इस स्वीकृत विभाजन से बहुत भिन्न रूप स्वीकार किया है । कृपाराम ने स्वयंदूती को सातवा भेद माना है, लक्षिता के अन्तर्गत तीन भेद किये हैं, क्रिया, वचन तथा प्रत्यक्ष-लक्षितायें और गुप्ता के भेद में वर्तमानसुरतगोपना एक चौथा भेद जोड़ा है । नन्ददास ने परकीया का सुरतिगोपना, वाग्विदग्धा तथा लक्षिता में, सरल विभाजन किया है । कुमारमणि ने प्रथम निपुना, रतिगोपना तथा लक्षिता नामक प्रधान भेद किये हैं, पुन: निपुना (विदग्धा) और रतिगोपना (गुप्ता) के क्रमश: दो तथा तीन सामान्य स्वीकृत भेद किये हैं । उन्होंने निपुना के साथ स्वयंदूती का उल्लेख भी किया है । लक्षिता को प्रच्छन्न तथा प्रकाश में विभाजित किया है । प्रकाश-लक्षिता को तीन भेद मुदिता, अनुशयना तथा साहसिका में माना है । अनुशयना के तीन प्रचलित भेद प्रस्तुत करने के बाद प्रथम विघटितसंकेता को वर्तमान तथा भविष्यत्संकेता के रूप में विकसित किया है । इस प्रकार कुमारमणि ने कुलटा को छोड़कर अन्य सभी भेद-उपभेदों में भानुदत्त के वर्गीकरण को ग्रहण कर लिया है, कुलटा स्वभावत: रसाभास को उत्पन्न करने के कारण गृहीत नहीं हो सकी । रसलीन ने इस विभाजन को अत्यधिक बढ़ाया है, यहां तक कि कुछ भेद बिलकुल अपरिचित हैं । छ: भेदों के उल्लेख के इन्होंने सुरतिगोपना के चार भेद कृपाराम के आधार पर कहे हैं, वचनविदग्धा के साथ पुन: स्वयंदूती का उल्लेख किया है तथा क्रियाविदग्धा के अन्तर्गत पतिवंचिता और दूतीवंचिता, दो नये भेद दिये हैं । लक्षिता के दो भेदों में सुरतिलक्षिता तो तोष आदि के द्वारा उल्लखित हो चुकी है, दूसरी प्रकाशलक्षिता है । अनुशयना को सामान्य तीन भेदों में विभाजित किया गया है, पर इसके तीसरे भेद को पुन: दो भेदों में बांटा गया है, जो अस्पष्ट है । रसलीन ने एक भेद पयमनोरमा का भी दिया है, पर उसका सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है ।[१]

---

१. डॉ० राकेश गुप्त - नायक नायिका भेद पृ० ११६

दास ने इस विभाजन में कुलटा को छोड़ दिया है, और गुप्ता को विदग्धा के भेद रूप में रखा है।[१] विदग्धागुप्ता तथा अनुशयना के भेद सामान्य है, पर लक्षिता को सुरतिलक्षिता, हेतुलक्षिता, तथा धीरलक्षिता में विभाजित किया गया है और इस विभाजन को छोड़कर दास का सारा विभाजन विदग्धा का ही विस्तार हो जाता है क्योंकि उन्होने मुदिता तथा अनुशयना के उदाहरण विदग्धा के साथ ही प्रस्तुत किये हैं। ब्रह्मदत्त ने क्रिया विदग्धा, वाग्विदग्धा स्वयंदूती को परकीया के स्वतन्त्र भेद माने हैं और केवल अनुशयना के उपभेद किये हैं। इस प्रसंग में यह बात ध्यान रखने की है कि भानुदत्त ने केवल अपना विभाजन ऊढ़ा को लेकर किया था, पर हिन्दी में इस मत को केवल चिन्तामणि और देव ने पूर्णत: स्वीकार किया है। अन्यों ने या तो इनके संबंध में कुछ कहा ही नहीं अथवा दोनों में स्वीकार किया है। रसलीन ने एक नया भेद दिया है, जो स्वकीया और परकीया में समान रूप से लागू होता है, कामवती, प्रेमअशक्ता और अनुरागिनी। तोष ने इनके पहले ही अपने एक स्वतन्त्र विभाजन में इन भेदों को स्वीकार किया है। दास ने उद्बुद्धा की प्रथम स्थितियों के रूप में इसके अंतिम दो भेदों को माना है और उनका भाव तोष के समान है।

सामान्य के संबंध में स्वकीया के भेदों को स्वीकार करने वालों में अकेले कृपाराम ने ही इन भेद उपभेदों के उदाहरण भी दिये हैं।[२] इन्होने मुग्धा, मध्या, और प्रौढ़ा सामान्या का विचार किया है, मुग्धा के चारों भेदों के साथ सुरत और सुरतान्त का विवेचन तीनों नायिकाओं का किया है। मुख्यत: सामान्या का विभाजन करने वालों में भोज ने ऊढ़ा, अनूढ़ा, स्वयंवरा, स्वैरिणी तथा वैश्या माना है और वैश्या के तीन भेद पणिका, विलासिनी तथा रूपाजीवा स्वीकार किया है। शिंगभूपाल तथा विश्वनाथ ने इसके केवल दो भेद रक्ता और विरक्ता माना है। हिन्दी में सम्भवत: किसी ने भी इनका अनुसरण नहीं किया है। कुमारमणि ने स्वतन्त्रा, जनन्याधीना तथा नियमिता

---

१. डॉ० राकेश गुप्त - नायिक नायिका भेद पृ० १२०
२. ,, वही ,, ,, ,, ,, पृ० १२३ से १२५ तक

भेद दिये है, रसलीन ने इसमें प्रेमदु:खिता को और जोड़ा है तथा भानु ने केवल पहले दो भेदों को स्वीकार किया है ।[१]

स्वकीया आदिक के विभाजन के बाद भानुदत्त ने नायिका का एक स्वतन्त्र विभाजन इस प्रकार किया है - अन्यसम्भोगदु:खिता, वक्रोक्तिगर्विता, मानवती । पुन: मानवती के लघु गुरु तथा मध्य मानवती और वक्रोक्तिगर्विता के प्रेम तथा सौन्दर्यगर्विता उपभेद किये है । नन्ददास, केशव, चिन्तामणि तथा कुछ अन्य कवियों को छोड़कर अधिकांश हिन्दी लेखकों ने इस विभाजन को किसी न किसी रूप में प्रस्तुत किया है । कुछ लेखकों ने इन भेदों में से कुछ छोड़ दिये हैं और न उनमें रहीम, मतिराम, देव, पद्माकर, भानु तथा 'हरिऔध' प्रधान है । इन्होंने मानवती के तीन भेद दिये हैं । परन्तु इन लेखकों में से प्रमुख ने इस विभाजन को वियोग श्रृंगार के तीन या चार भेदों के साथ अलग प्रस्तुत किया है । मतिराम, देव, तथा नन्दराम आदि ने वक्रोक्तिगर्विता के दो उपभेदों को स्वतन्त्र भेदों के रूप में लिया है । परन्तु इन उपभेदों में कृपाराम, कुमारमणि, रसलीन तथा दास आदि ने गुनगर्विता और जोड़ा है । कृपाराम तथा रसलीन ने इन तीनों को पुन: दो भेद दिये हैं, वक्रोक्ति तथा सरलोक्ति या सुधागर्विता । कुमारमणि ने चौथी यौवनगर्विता भी मानी है और दास ने नायिका के आठ अंगों के साथ गर्विताएं भी आठ प्रकार की मानी है । तोष ने भानुदत्त के तीन के विभाजन में कामवती, अनुरागिनी तथा प्रेम-अशक्ता को जोड़कर संख्या छ: करदी है । भानुदत्त तथा अधिकांश हिन्दी लेखकों ने भी इसे सामान्य विभाजन माना है, जो किसी भी वर्ग की नायिकाओं में लगाया जा सकता है । परन्तु कुछ हिन्दी कवियों ने ऐसा नहीं किया है । कृपाराम के अनुसार अन्य सम्भोगदु:खिता केवल स्वकीया और सामान्या में लग सकता है, परकीया में नहीं । प्रतापनारायणसिंह के अनुसार ये समस्त भेद केवल प्रौढ़ा के हो सकते है और इन्होंने प्रौढ़ा के अन्तर्गत परकीया तथा सामान्या, दोनों को लिया है । भानु ने मुग्धा को छोड़ कर सबमें इस भेद को

---

१. डॉ० राकेश गुप्त - नायक नायिका भेद पृ० १२६

स्वीकार किया है । 'हरिऔध' ने माना है कि इसका उचित प्रयोग मध्या और प्रौढ़ा के संबंध में ही हो सकता है, पर परकीया और स्वकीया में भी लग सकता है । - मीतल ने इसे मध्या और प्रौढ़ा का भेद ही माना है । यद्यपि हिन्दी के अधिकांश कवियों ने इस विभाजन को स्वतन्त्र माना है, पर बहुत समय तक वे इसके लिये कोई आधार नहीं प्रस्तुत कर सके । प्रतापनारायण, भानु, 'हरिऔध' तथा पोद्दार जैसे लेखकों ने इसे स्वभाव पर आधारित माना है और मीतल ने इसे दशानुसार माना है। इस विभाजन को उचित आधार देने की भावना पहले भी देखी जा सकती है । कुमारमणि ने गर्विता को स्वाधीनपतिका तथा मानवती और अन्य-सम्भोगदु:खिता को खण्डिता के अन्तर्गत रखा है । दास ने कुमारमणि का अनुसरण किया है, केवल अन्यसम्भोगदु:खिता को उन्होंने विप्रलब्धा से संयुक्त किया है । बिहारीलाल ने भी कुमारमणि का अनुसरण किया है, पर ब्रह्मदत्त ने अवस्थानुसार नायिकाओं के विभाजन के अन्तर्गत इन तीनों भेदों को रखा है ।

भरत द्वारा अवस्थानुसार किये गये नायिकाओं के आठ भेदों को इतना महत्व प्राप्त हुआ है कि इस विभाजन को किसी भी महत्वपूर्ण कवि या लेखकों ने नहीं छोड़ा है ।[१] भरत के विभाजन में वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता और विप्रलब्धा इन छ: भेदों को प्राय: लेखकों ने वैसे ही स्वीकार कर लिया है, केवल प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका का विस्तार आदि किया है । प्रोषितभर्तृका की विभिन्न स्थितियों के आधार पर बाद में या तो उसके उपभेद किये गये अथवा उनको स्वतन्त्र रूप में भेदों के साथ स्वीकार कर लिया गया है । प्रोषितभर्तृका के साथ इससे मिलते-जुलते दो रूप प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका और माने गये है । भानुदत्त ने पहले के लिये प्रोष्यत्पतिका नाम देकर नवें भेद के रूप में स्वीकार किया है । इन दोनों को स्वतन्त्र भेद के रूप में बहुत अधिक लेखकों कवियों ने स्वीकार किया है । उदाहरणस्वरूप - कृपाराम, रहीम, तोष, मतिराम, पद्माकर, लछिराम, प्रताप, भानु, 'हरिऔध' तथा मीतल । नन्ददास, सुन्दर तथा जसवन्तसिंह ने भानुदत्त के समान नवां भेद प्रवत्स्यत्पतिका को ही बढ़ाया है । बेनी, प्रबीन और गुलाबराय ने ग्यारहवां भेद आगमिष्यत्पतिका को

---

१. डॉ० राकेश गुप्त, नायक नायिका भेद - पृ० १२७ - १२८

माना है । भूधरदत्त ने गर्विता आदि भेदों को साथ रखकर तेरह की संख्या पूरी की है । केशव और चिन्तामणि ने किंचित् नाम भेद के साथ इन आठ भेदों को स्वीकार किया है । कुमारमणि, देव, रसलीन, दास, चन्द्रशेखर, श्यामसुन्दर, बिहारीलाल ने अन्य भेदों को उपभेदों के रूप में स्वीकार कर लिया है । कुमारमणि के अनुसार एष्यत्पतिका (आगत) वासकसज्जा के अन्तर्गत स्वीकार की गई है और प्रोषितपतिका को प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसतपतिका और प्रवसितपतिका में विभाजित किया है । देव ने इनके चार भेद किये है, प्रवत्स्यत्पतिका, शुद्धप्रोषितपतिका, आगतपतिका तथा चौथे का नाम नहीं दिया है । रसलीन ने पांच भेद इसके अन्तर्गत दिये हैं - गमिष्यत्, गच्छत्, आगमिष्यत्, आगच्छत् तथा आगतपतिका । इन्होंने आगतपतिका के साथ संयोगगर्विता का उल्लेख किया है । वस्तुत: अधिकांश लेखकों ने आगतपतिका के अन्तर्गत उसकी तीनों स्थितियां आगमिष्यत्, आगच्छत् तथा आगत स्वीकार कर लिया है । दास ने इसका विभाजन (प्रोषितभर्तृका का) प्रवत्स्यत्प्रेयसी, प्रोषित, आगच्छत् तथा आगत में किया है, इसमें अंतिम का उल्लेख वासकसज्जा के अन्तर्गत भी हुआ है । चन्द्रशेखर, श्यामसुन्दर ने विरहिणी का विभाजन भूता, भविष्या या भावी तथा वर्तमान में किया है ।

भानुदत्त ने अभिसारिका के अन्तर्गत ज्योत्स्ना, तमिस्त्रा और दिवसा अभिसारिका के भेद माने हैं[१], समयसूचक इस भेद को हिन्दी के अधिकांश कवियों ने स्वीकार किया है । परन्तु पद्माकर, लछिराम, दौलतराम तथा भानु आदि ने अभिसारिका के साथ सामान्य रूप से इनको सम्बद्ध किया है, पर मतिराम, रसलीन, बेनी प्रबीन, `हरिऔध` और मीतल ने इनको परकीया या अभिसारिका का भेद माना है । कृपाराम, रहीम, दास और स्कन्दगिरी ने केवल दो भेद दिये हैं ओर नन्ददास, जसवन्तसिंह, देव, श्यामसुन्दरदास, तथा पोद्दार ने इसके भेदों का बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है । अभिसारिका के इन तीनों भेदों के अतिरिक्त केशव ने अनुभूति के आधार पर उसके तीन भेद और दिये हैं - प्रेमा, गर्वा तथा कामा । तोष ने भानुदत्त के प्रथम दो भेदों के साथ अभिसारिका का उल्लेख और किया है । कुमारमणि ने इसके साथ चौथा भेद व्याजाभिसारिका जोड़ा है । नन्दराम ने रंग (वस्त्र) के आधार पर अरुणा, पीता तथा

---
१. डॉ० राकेश गुप्त - नायक नायिका भेद पृ० ३५-३६

हरिताभिसारिका और गिनाये हैं ।

जैसा कहा गया है, प्रथम छ: भेदों को अधिक विस्तार नहीं मिल सका, केवल कुमारमणि ने उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा और कलहान्तरिता के भेद दिये हैं । इनके अनुसार उत्कण्ठिता या तो क्रियाविलम्बिता सुरता होती है या अनुत्पन्नसम्भोगा । यह दूसरा भेद पुन: स्थिति भेद के अनुसार साक्षाद्दर्शना, गुणश्रवणादर्शना, चित्रदर्शना तथा स्वप्नदर्शनानुतापा में विभाजित किया गया है । विप्रलब्धा का पतिवंचिता तथा सखीवंचिता में और कलहान्तरिता का ईर्ष्या तथा प्रणयकलहान्तारिता में विभाजन किया गया है । जहां तक इस विभाजन के अन्य विभाजन में प्रयुक्त होने की बात है, अधिकांश लेखकों ने मुग्धा, प्रौढ़ा, मध्या, परकीया और सामान्या में इनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । कुछ ने इन अवस्थाओं का उदाहरण देते समय स्वकीया को केवल एक रूप में माना है और कुछ ने केवल इनके सामान्य उदाहरण भर दिये है । केशव ने अपने श्रृंगार के दोनों - प्रच्छन्न तथा प्रकाश-भेदों में इन अवस्थाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और केवल अभिसारिका को स्वकीया परकीया तथा सामान्या में स्वीकार किया है । देव ने अपने पहले ग्रन्थों में इनको स्वतन्त्र विभाजन के रूप में माना है, पर ' भामिनीविलास ' में केवल मध्या, स्वकीया के अन्तर्गत माना है । दास ने इनको दो भागों में बांटा है[१], स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा तथा अभिसारिका को संयोग श्रृंगार से सम्बद्ध किया है और शेष को वियोग श्रृंगार से । श्यामसुन्दरदास ने हेमचन्द्र तथा शारदातनयका अनुसरण करते हुये माना है कि इनमें तीन - विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका तथा विप्रलब्धा का ही सम्बन्ध परकीया

---

१. डॉ० राकेश गुप्त, नायक नायिका भेद - पृ० ३७-३८

से है । साथ ही गुलाबराय के साथ इन्होंने अभिसारिका के अन्तर्गत प्रेष्या और दासी का उल्लेख भी किया है ।

नायिका के उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा नामक भेदों को हिन्दी में अधिकांश नायक-नायिका भेद के लेखकों ने अपनाया है । नन्ददास, जसवंतसिंह, कुमारमणि तथा श्यामसुन्दरदास ऐसे कुछ लेखकों ने अवश्य इस विभाजन को ग्रहण नहीं किया है । 'हरिऔध' ने उत्तमा के आठ प्रकार दिये हैं - पति, परिवार, जाति, देश, जन्मभूमि, धर्म-प्रेमिका तथा निजतानुरागिनी और लोकसेविका । मध्या में व्यंग्यविदग्धा, मर्मपीड़िता, दो भेद माने गये है, पर 'हरिऔध' के ये विभिन्न विभाजन श्रृंगार के आलम्बन-विभाव- रूप नायिका के नहीं माने जा सकते । शरीर-मनोविज्ञान के आधार पर नायिका के पद्मिनी, शंखिनी, हस्तिनी तथा चित्रिणी नामक भेद संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में नहीं मिलते ।[१] हिन्दी में केशव ने इनका समावेश किया है, जिसका आधार संस्कृत के कामशास्त्र के ग्रन्थ हैं । हिन्दी में भी यह अधिक प्रचलित नहीं हो सका, मतिराम, कुमारमणि, दास, पद्माकर जैसे कवियों ने इसे छोड़ दिया है । भानुदत्त का दिव्या, अदिव्या तथा दिव्यादिव्या का विभाजन हिन्दी के लेखकों में केवल रसलीन तथा भानु द्वारा स्वीकार किया गया है । देवने अपने 'रसविलास' में नायिकाओं का विभाजन जातियों तथा पेशों के अनुसार भी किया है और चौंसठ नायिकाएं देश के अनुसार बतायी है । वैद्यक में उल्लिखित शरीर की प्रकृति के अनुसार भी देव ने कफ, पित्त तथा बात - प्रकृति की नायिकाएं बतायी हैं । भरत के शील पर आधारित विभाजन के अनुकरण पर देव ने नायिकाओं का विभाजन देवसत्व, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, नाग, कपि तथा काक आदि सत्वों में किया है ।

---

१. डॉ० राकेश गुप्त , नायक नायिका भेद - पृ० १३६

श्रृंगारी लोकगीत -

वे सभी लोकगीत श्रृंगारिक लोकगीत कहे जायेंगे जो श्रृंगार रस से संबंधित हैं। जिन गीतों में श्रृंगार के उभयपक्ष - संयोग और वियोग उजागर हुए हैं वे सभी गीत श्रृंगारिक गीत हैं। इन गीतों में संयोग और वियोग की समस्त अवस्थाओं का या उनसे भी एकाधिक अवस्थाओं का विवेचन मिलेगा। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि ऐसे कई गीत मिलते हैं जिनमें करुणा की भावना भरी पड़ी है पर इन गीतों को हम श्रृंगारिक लोकगीत नहीं कहेंगे क्योंकि राजस्थान प्रदेश में मृत्यु के अवसर पर भी कुछ गीत गाये जाते हैं और इन गीतों को शोक-गीत या मृत्यु-गीत या करुण रस से संबंधित गीत नाम दिया जा सकता है। हम अपने शोध-प्रबन्ध में केवल उन्हीं लोक गीतों का विवेचन करेंगे जो विशुद्ध रूप से श्रृंगार रस से संबंधित है। वियोग को श्रृंगार में स्थान मिलता है पर किसी की मृत्यु से उत्पन्न करुण भाव श्रृंगार रस की सीमा में समाहित नहीं किया जा सकता है। वह तो करुण रस की अनमोल थाती है, श्रृंगार रस की सामग्री नहीं।

श्रृंगारिक लोकगीतों का वर्गीकरण -

राजस्थान की वसुंधरा वीर प्रसवनी के रूप में प्राचीनकाल से प्रसिद्ध रही है।। यहाँ के वीरों और वीरांगनाओं ने अपने साहसिक कार्यों से संसार को चमत्कृत किया है। फलत: यहाँ वीरता-परक साहित्य प्रभूत मात्रा में मिलता है। यदि यहाँ के काव्य पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि यहाँ प्रचुरमात्रा में श्रृंगार संबंधी साहित्य सर्जना हुई। समग्र साहित्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि यहाँ का व्यक्ति या तो युद्ध में सन्नद्ध दिखाई देता है या फिर प्रेम-पिपासु के रूप में हमारे सामने आता है। युद्ध के समय के बाद जो भी समय मिलता था उसे वे प्रेमालापों में गुजारते थे। तत्कालिन अभिजात्य वर्ग का लोक-साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। परिणामत: यहाँ के लोकगीतों में श्रृंगारिक लोकगीतों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। अतएव श्रृंगारिक लोकगीतों का वर्गीकरण निम्न प्रकार

से किया जा सकता है - (१) संयोग श्रृंगार और विप्रलंभ श्रृंगार । आगामी अध्यायों में हम संयोग और विप्रलंभ श्रृंगार के गीतों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करेंगे ।